॥ धर्म का मूल सम्यग्दर्शन है॥

आत्मधर्म

वर्ष : २
अंक : ७

: संपादक :
रामजी माणेकचंद दोशी
वकील

कार्तिक
२४७३

❀ जैनशास्त्रों का अर्थ करने की पद्धति ❀

जैनशास्त्रों में वस्तु का स्वरूप समझाने के दो प्रकार हैं:—निश्चयनय और व्यवहारनय।

(१) निश्चयनय—वस्तु सत्यार्थरूप में जैसी हो, उसे उसीरूप में कहना, सो निश्चयनय है अर्थात् जहाँ निश्चयनय की मुख्यता से कथन हो, वहाँ सत्यार्थ ऐसा ही है, यह जानना चाहिये और—

(२) व्यवहारनय—वस्तु सत्यार्थरूप में वैसी न हो किन्तु परवस्तु के साथ का संबंध बताने के लिये कथन हो, सो व्यवहारनय है। जैसे 'घी का घड़ा' कहा जाता है किन्तु वह घी का नहीं लेकिन मिट्टी का है, फिर भी दोनों एक जगह रहते हैं, यह बताने के लिये घी का घड़ा कहा जाता है। इसी प्रकार जहाँ व्यवहारनय से कथन हो, वहाँ वास्तव में वैसा नहीं है किन्तु निमित्तादि बताने के लिये उपचार से वह कथन है, यह समझना चाहिये।

दोनों नयों के कथन को सत्यार्थ जानना अर्थात् 'इसप्रकार भी है और इसप्रकार भी है' यह मानना, सो भ्रम है। इसलिये निश्चय कथन को सत्यार्थ समझना और व्यवहार कथन को सत्यार्थ नहीं समझना चाहिये। किन्तु यह समझना चाहिये कि वह कथन निमित्तादि को बतानेवाला है।

इस प्रकार दोनों नयों के कथन का अर्थ करना, सो दोनों नयों का ग्रहण है। दोनों को ग्रहण योग्य मानना, सो भ्रम है। सत्यार्थ को ही ग्रहण करनेयोग्य मानना चाहिये।

वार्षिक मूल्य तीन रुपया

शाश्वत सुख का मार्ग दर्शक मासिक पत्र

एक अंक पाँच आना

आ त्म ध र्म का र्या ल य — मो टा आं क ड़ि या — का ठि या वा ड़

अरहंत का भक्त

पूज्य श्री कानजीस्वामी के सत्तास्वरूप के प्रवचन से

सर्वज्ञ परमात्मा जिनेश्वर अरहंतदेव का सेवक होने के लिये समस्त विश्व को छोड़ देना होता है अर्थात् संसार की परवाह छोड़ देना पड़ती है। समस्त विश्व की प्रतिकूलता आ जाय तो भी भगवान अरहंतदेव की श्रद्धा और भक्ति नहीं छोड़ी जाती। अपने पुरुषार्थ से संसार की ओर का अशुभभाव छोड़कर सच्चे देव-गुरु के प्रति भक्ति पूजा, विनय इत्यादि का शुभभाव हुये बिना गृहीत मिथ्यात्व भी दूर नहीं होता।

भगवान का भक्त भगवान को विराजित करता हुआ कहता है कि—

आवो आवो सीमंधर नाथ अम घेर आवो रे,
रुडा भक्ति वत्सल भगवंत नाथ पधारो रे।
हूं कइविध पूजूं नाथ कइ विध वंदूं रे ?
मारे आंगणे विदेही नाथ जोइ जोइ हरषूं रे....

(जिनेन्द्र स्तवन मंजरी, पा. २५८)

वीतरागदेव-गुरु की भक्ति से उछलता हुआ वीतरागदेव का सेवक कहता है कि हे प्रभु! हे नाथ! किस विधि से आपकी पूजा करूँ। समस्त विश्व को भुलाकर और इस शरीर के कमल बनाकर उनके द्वारा आपकी पूजा करूँ या किस प्रकार पूजूं? (यहाँ अज्ञानता नहीं किन्तु विनय है, भक्ति का उल्लास है)। पहले तो वीतरागदेव-गुरु की भक्ति में सर्वस्व समर्पण होना चाहिये, उसके बिना वीतरागदेव का भक्त नहीं कहला सकता।

जो विपदाओं को याद करता है, वह भगवान का भक्त नहीं है। जगत में विपदा कैसी? अरहंत का भक्त विपदा को नहीं देखता, वह तो निकला सो निकला। अरहंतदेव का सेवक हुआ, सो अब वह अरहंत पद को लेकर ही रहेगा। अरहंत का भक्त हुआ सो वह अरहंत पद को लिये बिना कदापि नहीं रहेगा, इसी का नाम है अरहंत का भक्त, इसी का नाम है वीतराग का सेवक और इसी का नाम है जैन।

आत्मधर्म : वर्ष : २ : अंक : ७ : १९ : कार्तिक : : २४७३ :

रुचि और पुरुषार्थ

जिसे जिस वस्तु की रुचि होती है, वह उस वस्तु की मर्यादा नहीं बाँधता, उसकी हद नहीं होती। जिसे पैसे की रुचि होती है, वह लाख दो लाख अथवा करोड़ इत्यादि की मर्यादा नहीं बाँधता किन्तु जितना मिले, उतना ले लेने की उसकी भावना होती है। उसी प्रकार जिसे आत्मा की रुचि होती है, वह आत्महित के लिये कोई मर्यादा नहीं बाँधता। आत्मा के अमर्यादित स्वभाव की रुचि होने पर, उसमें कोई मर्यादा नहीं हो सकती किन्तु काल और पुरुषार्थ की मर्यादा को तोड़कर अमर्यादित पुरुषार्थ के द्वारा संपूर्ण स्वरूप को प्राप्त करता ही है।

''आत्मा का स्वरूप दो-तीन दिन में अथवा अमुक समय तक प्राप्त हो सके तो ले लेना चाहिये'' इस प्रकार जो काल की मर्यादा को बाँधकर स्वरूप को प्राप्त करना चाहता है, उसे आत्मा की रुचि ही नहीं है। यदि वास्तव में आत्मा की रुचि हो तो मर्यादा न हो। अनंतानंत काल से संसार के कार्यों को करता आया है, फिर भी कोई काल की मर्यादा नहीं बनाई; किन्तु यहाँ मोक्ष साधन में मर्यादा बनाना चाहता है, समझना चाहिये कि उसके आत्मा की रुचि नहीं है किन्तु संसार की रुचि विद्यमान है।

यदि तुझे वास्तव में आत्मा की रुचि उत्पन्न हुई हो तो संसार मात्र छोड़कर आत्मा के लिये ही जीवन अर्पण कर दे। अरे! एक तो क्या किन्तु यदि अनंतानंत भव भी आत्मा के लिये देना पड़े तो उन्हें भी अर्पित करने को तैयार हूँ। चाहे जो हो किन्तु मुझे तो आत्मा का हित करना ही है। इस प्रकार आत्मरुचि करके काल की मर्यादा को तोड़ दे। ऐसा करने से अनंत भव का नाश होकर अल्प काल ही में तेरी मुक्ति अवश्य हो जायेगी। काल की मर्यादा को तोड़कर जो आत्मा के लिये अनंत भवों को अर्पित करने के लिये तैयार हुआ है, उसके भव हो ही नहीं सकता। आत्मा की ओर यथार्थ रुचि होने से उस रुचि के बल से काल मर्यादा को तोड़कर, उग्र पुरुषार्थ के द्वारा वह एक-दो भव में ही मुक्त हो जायेगा किन्तु यदि काल की मर्यादा बाँधी तो अनंतकाल में भी जन्म-मरण का अंत नहीं होगा। मर्यादा के लक्ष्य से मुक्ति का अमर्यादित पुरुषार्थ प्रगट नहीं होता। जिस ओर की रुचि होती है, उसी ओर का पुरुषार्थ जागृत होता है; इसलिये सर्व प्रथम क्षेत्र और काल की मर्यादा को तोड़कर रुचि को बदलो।

प्रश्नोत्तर

प्रश्न—हमारे नगर में जो प्रतिष्ठित शिक्षित सज्जन मिलते हैं, वे आत्मा या धर्म के विषय में जो कुछ कहें, उसे मान लें या नहीं ?

उत्तर—सच्चे धर्म-ज्ञान की तो यह पद्धति है कि परीक्षा करे, आगम-युक्ति से विचारे, गंभीरता से मनन करे, यदि कसौटी पर ठीक उतरे तो माने, वरना न माने। शास्त्र में कहे गये कथनों को भी प्रयोजनभूत विषयों में जाँच करके और उसे देख समझकर खातिरी कर लेनी चाहिए, ऐसी आज्ञा है। इस विषय में श्रीमद् राजचन्द्रजी कहते हैं कि—

करी जो जो वचननी तुलना रे,
जो जो शोधीने जिन सिद्धांत।
मूल मारग सांभलो जिननो रे॥

प्रश्न—तब तो यह सार निकला कि कथनकार चाहे जितना विद्वान, चाहे जितना मान्य हो, चाहे जितना शास्त्राभ्यासी हो, चाहे आगम के ही वचन क्यों न हों, परंतु प्रयोजनभूत बाबत में परीक्षा किये बिना उन्हें ग्रहण न करना चाहिये।

उत्तर—हाँ, सत्य रीति तो यही है। व्यवहार में भी तुम सबकी सुनकर, भले-बुरे की पहिचान कर कार्य करते हो तो फिर परमार्थ में तो परीक्षा आवश्यक है ही।

प्रश्न—इस विषय में श्रीमद् राजचंद्रजी के अतिरिक्त और भी कोई शास्त्र का प्रमाण है या नहीं ?

उत्तर— हाँ, इसके विषय में जयधवला में इस प्रकार लिखा है। (पृष्ठ ८)

''जो शिष्य, युक्ति की अपेक्षा किए बिना मात्र गुरु-वचन के अनुसार ही प्रवृत्ति करता है, वह प्रमाणानुसारी नहीं कहा जा सकता।''

श्री सत्तास्वरूप में लिखा है कि ''आगम में लिखा है, मात्र इसीलिये मान लें तो स्वात्मज्ञानगम्य वह विषय नहीं हुआ। अन्य के वचन मानें तो भी ज्ञानगम्य विषय नहीं हुआ, मात्र पर का वचन श्रवणगोचर हुआ। इसलिये प्रयोजनभूत जो बात आगम में कही है, उसे प्रत्यक्ष, अनुमान आदि से परीक्षा करके ही ग्रहण करना चाहिये।

संपूर्ण स्वतंत्रता की घोषणा

१— इस जगत में ६ द्रव्य हैं—जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल। आचार्यदेव ने अत्यंत स्पष्ट स्वतंत्रता की घोषणा करके बता दिया है कि इनमें से कोई भी द्रव्य एक दूसरे का कुछ भी उपकार या अपकार नहीं कर सकता। एक द्रव्य दूसरे द्रव्य में परिवर्तन, सहायता या प्रेरणा कुछ नहीं कर सकता। प्रत्येक द्रव्य पूर्ण तीन लोक और तीन काल में स्वतंत्र है। एक द्रव्य अन्य द्रव्य अथवा उसकी पर्याय को भी कुछ बिगाड़-सुधार नहीं सकता। इस परम तत्त्व को वीतरागदेव तथा उनके सच्चे अनुयायी ही भली प्रकार जान सकते हैं।

२— उपर्युक्त सिद्धांत के निश्चित हो जाने पर आत्मा को अपनी तरफ ही लक्ष्य रखना चाहिये। आत्मा स्वयं ही अनंत गुणों का खजाना है। आत्मा का खजाना सर्वदा आत्मा में ही अखंडरूप में ही रहता है। आत्मा का खजाना आत्मा से बाहर कैसे हो सकता है? इसलिये आत्मा के शुद्ध भाव में रमण करना ही सर्वोपरि सेवा है। जब कोई किसी दूसरे का कुछ उपकार या अपकार कर ही नहीं सकता, फिर पर की सेवा का सवाल ही क्या है? आत्मा पर की सेवा करेगी, पर की तरफ लक्ष्य रखेगी तो वह विकारी हुये बिना कदापि न रह सकेगी। और यदि अपने त्रिकाली अखंड ज्ञायकस्वभाव की ओर लक्ष्य करेगी तो उसे शुद्धता प्रगट हुये बिना न रहेगी। आत्मा को अपने त्रिकाली ज्ञायकस्वभाव (निश्चयनय) का तथा अपनी वर्तमान विकारी अपूर्ण अवस्था (व्यवहारनय) का ज्ञान करके अपने त्रिकाली ज्ञायक ध्रुव स्वभाव (निश्चयनय) को आदरणीय मानकर उसकी ओर उन्मुख होने पर उस ध्रुव स्वभाव (निश्चयनय) के आश्रय से शुद्धता प्रगट होती है, यह बताया है।

३—एक जीव किसी अन्य जीव का या जड़ का-शरीर, मकान, गाम या क्षेत्र का कुछ उपकार या अपकार नहीं कर सकता। हाँ, ऐसा माननेवाला जीव शुभभावना करता है और उस शुभभाव के बाद तत्काल अशुभभाव आ जाता है। अत: ऐसे भाव का फल संसार ही होगा; धर्म नहीं। किन्तु जो यह मानता हो कि मैं दूसरे का कुछ नहीं कर सकता, उसके जो शुभभाव होता है, वह भी न तो धर्म है और न धर्म का कारण ही। संपूर्ण वीतरागता प्राप्त न हो, तब तक ज्ञानियों के शुभभाव होते रहते हैं परंतु वे उसे धर्म तो कदापि मानते ही नहीं। पुण्य को धर्म या धर्म का सहायक

मानने की जो बलवान प्रवृत्ति संसार में चल रही है, उसका आचार्यदेव ने पूर्णतया निषेध करके कहा है कि—

है कर्म अशुभ कुशील अरु जानो सुशील शुभ कर्म को।
कैसे सुशील वह कर्म जो संसार में दाखिल करे॥

पुण्य और पाप दोनों विभाव परिणति से उत्पन्न होते हैं, इसलिये दोनों बंधरूप ही हैं। भ्रम के कारण उनकी प्रवृत्ति भिन्न-भिन्न भासित होती है, इसलिये वे अच्छे और बुरे रूप में दो प्रकार से दिखाई देते हैं। वास्तविक दृष्टि से तो वे दोनों एकरूप ही हैं। वे बंधरूप ही हैं, खराब ही हैं, यह ज्ञानीजन जानते हैं। वे दोनों क्षुद्राणी के उदर से एक ही साथ उत्पन्न हुये हैं, इसलिये दोनों साक्षात् क्षुद्र हैं।

इस प्रकार की मान्यता पहले होनी चाहिये। मान्यता के होते ही वह शुभभाव नहीं टल जाता, इसलिये ज्ञानी के भी शुभभाव होता है किन्तु ज्ञानी और अज्ञानी के बीच अंतर यह है कि अज्ञानी शुभभाव को अच्छा मानता है, धर्म का कारण मानता है (जिसको अच्छा माना जाता है, उसे दूर करनेयोग्य कोई मान ही नहीं सकता, किन्तु वह विकार है, इसलिये पलट कर थोड़े समय में अशुभ हुये बिना न रहेगा और जब शुभभाव होता है, तब पुण्य और पाप दोनों प्रकार के कर्म बँधते हैं, इसलिये अज्ञानी के कभी धर्म नहीं होता) और ज्ञानी के अज्ञानी की अपेक्षा शुभभाव भिन्न प्रकार का उच्च और अधिक होता है, फिर भी वह उसे कदापि धर्म नहीं मानता।

४—जीव अनंत हैं। प्रत्येक जीव स्वयं सिद्ध पूर्ण चैतन्यस्वरूप वस्तु है। अनंत काल से परवस्तु को अपने हानि-लाभ का कारण मानकर यह दु:खी हो रहा है।

५—जो यह मानता है कि मैं अन्य जीवों का जीवनदाता हूँ या वे मेरे जीवन रक्षक हैं, वह मूढ़ हैं, अज्ञानी हैं। ज्ञानी इससे विपरीत है।

६—जो यह मानता है कि पर जीव मुझे मारते हैं या मैं उन्हें मार सकता हूँ, वह मूढ़ है, अज्ञानी है। ज्ञानी ऐसा नहीं मान सकता।

७—जो यह मानता है कि पर जीव मुझे सुखी-दु:खी करते हैं या मैं उन्हें सुखी-दु:खी करता हूँ तो वह मूढ़ है; ज्ञानी ऐसा नहीं मानता।

८—हे भाई! तेरी यह कल्पना कि मैं जीवों को सुखी-दु:खी कर सकता हूँ, उन्हें धर्म प्राप्ति करा सकता हूँ, उन्हें मोक्ष दिला सकता हूँ, उन्हें बंधन में डाल सकता हूँ, यह तेरी मिथ्यामति है।

९—हे जीव! सर्व प्रथम मिथ्यादर्शन को टालकर सम्यग्दर्शन प्रगट करना चाहिये। क्योंकि इसके बिना सम्यग्ज्ञान या सम्यक्चारित्र नहीं हो सकते।

१०—सम्यग्दृष्टि को ही सच्चे व्रत, दान, तप या शील हो सकते हैं, अज्ञानी को कदापि इन की प्राप्ति नहीं।

११—धर्म की शुरुआत सम्यग्दर्शन से होती है। अपना स्वरूप यथार्थरूप से जाने बिना सम्यग्दर्शन नहीं हो सकता इसलिये प्रथम अपने स्वरूप को यथार्थ रीत्या समझकर सम्यग्दर्शन प्रगट करना चाहिये। भव्य जीव चाहे वृद्ध हो, रोगी हो, निरोगी हो, बालक हो, जवान हो, निर्धन हो, धनवान हो, सभी उसे प्रगट कर सकते हैं।

१२—सम्यग्दर्शन, धर्म का मूल है। मिथ्यात्व, संसार का मूल है। इसलिये जीव का विकारीभाव पुण्य, पाप, आस्रव, बंध तथा अविकारी भाव संवर, निर्जरा, मोक्ष को पहिचानकर शुद्धता प्रगट करना चाहिये।

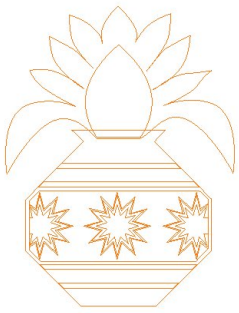

जीव को क्या करना चाहिये ?

जिज्ञासु जीवों को आत्मा—जो निश्चल चैतन्यरूप पदार्थ है उसे (१) पढ़नेयोग्य (२) ध्यान करनेयोग्य (३) आराधन करनेयोग्य (४) पूछनेयोग्य (५) सुननेयोग्य (६) अभ्यास करनेयोग्य (७) उपार्जन करनेयोग्य (८) जाननेयोग्य (९) कहनेयोग्य (१०) प्रार्थनायोग्य (११) शिक्षायोग्य (१२) देखनेयोग्य और (१३) स्पर्श करनेयोग्य है कि जिससे आत्मा सदा स्थिर बना रहे।

(श्री अमितगति आचार्य कृत योगसार, अध्याय ६ गाथा ४९)

नमः समयसाराय

: श्री समयसार कलश १ :

नमः समयसाराय स्वानुभूत्या चकासते।
चित्स्वभावायभावाय सर्व भावांतरच्छिदे॥

नमः समयसारायः—'समय' अर्थात् आत्मा और 'सार' अर्थात् रागादि रहित स्वभाव। उसे 'नमः' अर्थात् मैं नमस्कार करता हूँ—आदर करता हूँ। इसमें यह बताया है कि किसका आदर करना चाहिये और किसका नहीं। समयसार का अर्थ है रागादि तथा शरीरादि रहित शुद्ध आत्मस्वभाव, उसमें नमन करने से ही धर्म का प्रारम्भ होता है। ''पहले प्रारंभ में पश्चात् पंडित मरण के समय और अंत में केवलज्ञान की प्राप्ति के समय इन तीनों (जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट) भूमिकाओं तक समयसार में नमन करता रहूं'' इस प्रकार आचार्यदेव ने अप्रतिहत भाव का मांगलिक लिया है। वह कैसे? शरीरादिक परवस्तु है; कुछ भी करने का भाव, सो सब संयोगी-क्षणिक भाव है। मेरा स्वभाव ध्रुव अविनाशी है, इसी में नमन किया करूँ—ऐसी भावना रखी है। श्री आनंदघनजी ने कहा है कि—

''वीरजिनेश्वर चरणे लागूं वीर पणूं ते मागूं रे।''

(वीर जिनेश्वर चरणन लागूं वीरपना वह मांगूं रे)

वीर अर्थात् आत्मा का वीर्य स्वभाव। पुण्य-पाप अथवा राग-द्वेष आत्मा का स्वभाव नहीं है। आत्मा के वीर्य का ऐसा स्वभाव नहीं है कि राग-द्वेष को अपना माने। राग-द्वेष अथवा कर्म को अपना मानना, सो अज्ञान वीर्य का काम है। अज्ञानभाव से 'पर मेरे हैं' यह मानता है; स्वरूप में राग-द्वेष के क्षणिक भावों को ग्रहण करना आत्मवीर्य का स्वभाव नहीं है।

''वीरपणा वह मांगूं रे'' मेरा शुद्ध आत्मबल मात्र शुद्धस्वभाव के अतिरिक्त किसी पर के ऊपर न जाय, ऐसा वीरपन चाहता हूँ। पुण्य-पाप के भाव को ग्रहण करना, सो अज्ञान वीर्य अर्थात्

मिथ्या मोह का कार्य है। अनादि से अज्ञान वीर्य के कारण स्वभाव पर से विजित हो जाता था किन्तु अब स्वभाव के बल से मिथ्या मोह को जीतकर वीरता प्रगट करना है, वह वीरता कहाँ है ? यह कहते हैं।

''वीरपणूं ते आतमस्थाने जाण्यूं तुमची वाणे रे''

ध्रुव अकेला ज्ञान का रसकंद ही स्वभाव है। अपने ज्ञान और शक्ति के अनुसार जो अपने ध्रुव स्वभाव तक पहुँचा दे, उस ध्रुव स्वभाव को जानना और उसमें स्थिर होना, सो धर्म है।

यहाँ कहा है कि—''नमः समयसाराय'' अर्थात् आत्मा अकेला ज्ञानस्वरूप ध्रुव अविनाशी है, उस पर लक्ष्य गये बिना रागादि दूर नहीं होते, इसीलिये अपने आत्मस्वभाव में नमता हूँ। नमन करके स्वभाव में ढलता हूँ। यहाँ पर आचार्यदेव ने साधकदशा से ऐसा प्रारंभ किया है कि पूर्णता प्राप्त किये बिना नहीं रहेगा। मैं विकार की ओर नहीं नमता अर्थात् विकारी पर्याय का आदर नहीं करता। 'नमः' में साधक पर्याय है, और 'समयसाराय' में शुद्ध स्वभाव की ओर परिणमन करने का भाव है।

कम ज्ञान के कारण जितना बहिर्मुख लक्ष्य जाता है, उतना राग-द्वेष हुये बिना नहीं रहता। इसलिये यहाँ पर आचार्यदेव ने 'मैं विकारी पर्याय का नाश करता हूँ' इस प्रकार नास्ति से बात को प्रारंभ न करके 'शुद्धस्वभाव की ओर ढलता हूँ' यों अस्ति से बात का प्रारंभ किया है। इसमें श्रद्धा से लेकर केवलज्ञान दशा तक की बात है। श्रद्धा का विषय वस्तु है और वस्तु के शुद्ध स्वभाव की ओर के परिणमन का भाव, पर्याय है।

इस पहले कलश में आचार्यदेव कहते हैं कि मैं अपने शुद्ध स्वभाव का ही अंतरंग से आदर करता हूँ। निर्मल स्वभाव का आदर करने से निर्मल पर्याय प्रगट होती है। स्वरूप को स्थिर रखकर निर्मल परिणति का प्रगट होना, यह दोनों को लक्ष्य में लिया गया है। निर्मल पर्याय की उत्पत्ति में रागादि का व्यय सहज आ जाता है।

धर्म तो आत्मा का स्वभाव है। स्वभाव से बाहर का झुकाव अधर्म है। स्वयं अंतरंग की वस्तु है। जितनी बाहर की वस्तु है, उसमें मेरा परिणमन है ही नहीं। मैं अकेला शुद्ध सहज स्वाभाविक वस्तु हूँ, ऐसे समयसार में बंध-मोक्ष की अपेक्षा भी लेनेयोग्य नहीं है। मैं ऐसे स्वभाव की ओर ढलता हूँ।

मंगल का यह पहला ही कलश है। उसमें आचार्य की भावना है कि आत्मा सहजस्वरूप

अविनाशी वस्तु है। उसमें व्रत, दया आदि के समस्त भाव विकार है, वह विकारभाव की ओर परिणमन नहीं करना चाहता किन्तु ध्रुव स्वभाव की ओर ही ढलता हूँ, इसमें अप्रतिहत भाव की बात कही गई है, वापिस होने की बात ही नहीं है।

यहाँ आचार्यदेव कहते हैं कि शुद्ध आत्मस्वरूप में झुके सो झुके, अब शुद्धपरिणति को लिये बिना हम वापिस नहीं होंगे। 'नमः समयसाराय'—शुद्ध स्वरूप में ही मन-वचन से झुकता हूँ, वाणी में भी दूसरे का आदर नहीं है।

इस समयसार में झुकनेवाला ही पंचपरमेष्ठी-अरहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय अथवा साधु होता है। नमस्कार मंत्र के प्रथम पद में कहा है कि "णमो अरिहंताण" अर्थात् जिसने राग-द्वेष को दूर किया है, उसे नमस्कार होओ। अर्थात् अब मैं राग-द्वेष की ओर नहीं झुकूंगा। मैं राग-द्वेष रहित स्वभाव में ही झुकता हूँ। इस पंच नमस्कार पद का समस्त स्वरूप 'नमः समयसाराय' में कह दिया है। कहनेवाले स्वयं आचार्य पद में स्थित हैं और अल्पकाल में सिद्धपद को प्राप्त करनेवाले हैं।

नमस्कार कब कहलाता है? अरहंत को नमन करनेवाला अपने राग-द्वेष रहित यथार्थ स्वभाव को माने तो उसने अरिहंत को नमस्कार किया है। जो अरिहंत को नमन करता है, सो अरहंत होता है और सिद्ध को नमन करता है, सो सिद्ध होता है।

इसमें मात्र परिणमनस्वभाव की ही बात है। समय अर्थात् अपने ज्ञानरूप में ही होना, उसमें रागरूप होने का स्वभाव नहीं है, मैं रागरूप नहीं होता; मैं पूर्ण स्वरूप के ही आदर में रहूँ, उसमें कोई विघ्न नहीं है।

अरिहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु इन पाँच पदों में से साधु, अरिहंत और सिद्ध यह तीन पद प्रत्येक मुक्त होनेवाले जीव के-होते ही हैं, किन्तु आचार्य और उपाध्याय पद किसी के होते हैं और किसी के नहीं होते। जो समयसार की ओर नमता है, उसे सिद्धपद अवश्य मिलता है, जो आत्मस्वरूप में नमता है, उसे कर्म बाधक नहीं हो सकते। कोई कर्म, कोई काल अथवा कोई क्षेत्र आत्मा के लिये बाधक नहीं है।

जो अरहंत अथवा सिद्ध हो जाते हैं, वे फिर "नमः समयसाराय" नहीं कहते, क्योंकि वे पूर्ण हो गये हैं। आचार्यदेव कहते हैं कि मैं शुद्ध आत्मा में ही नमता हूँ। पुण्य या पाप की वृत्ति में मैं नहीं नमता। अवस्था में राग होने पर भी कहा है कि मैं उसरूप में नहीं परिणमता, उस तरफ नहीं

नमता। परिणमन करता हुआ भी परिणमन नहीं करता, यों नमः समयसाराय में कहा है।

अरिहंत अथवा सिद्ध अन्य किसी को नमस्कार नहीं करते क्योंकि वे पूर्ण हूँ तथा अज्ञानी परम पद को नमस्कार नहीं कर सकता क्योंकि वह अरहंत अथवा सिद्ध के स्वरूप को नहीं जानता और अरहंत अथवा सिद्ध का स्वरूप जाने बिना नमस्कार किसे करे ? इसलिये नमस्कार क्रिया तो आचार्य, उपाध्याय, साधु और सम्यग्दृष्टि के ही होती है।

वंद्यवंदक भाव का भेद रागमिश्रित है। साधकदशा में नमस्कार का विकल्प उठता है, फिर भी मैं उसरूप परिणमन नहीं करता। यहां विकल्प है, तथापि मैं उसरूप नहीं होता, ऐसे स्वभाव के बल से विकल्प का जो व्यवहार है, उसे मात्र जानता है, उसकी ओर आदर नहीं करता, मात्र शुद्ध स्वभाव की ओर ही झुकता हूँ। बीच में जो रागादिक आते हैं, उनका आदर नहीं करता, इसलिये कहा है कि मैं उसरूप परिणमन ही नहीं करता।

एक के नमस्कार के यथार्थ भाव में अनंत समा जाते हैं। एक से अनंत पृथक् नहीं है और अनंत से एक भिन्न नहीं है, क्योंकि स्वरूप में भिन्नता नहीं है अर्थात् सबका स्वरूप समान ही है।

आत्मा अकेला ज्ञाता-दृष्टा है। उसकी अवस्था में राग-द्वेष होता है तो उसका आदर नहीं होता, वहाँ तो पूर्ण स्वरूप के ही आदर करने का भाव है, मात्र ज्ञाता स्वरूप की ओर ही परिणमन का होना मेरा सत्व है और यही मेरा जीवन है। ऐसे प्रबल भावों के बीच यदि रागादि आ जाते हैं तो उन्हें अपना नहीं मानता।

श्री जयधवला में पंडितमरण का अधिकार है, उसमें भी यही बात है। मृत्यु के समय भी स्वभाव की ओर का आंतरिक झुकाव नहीं छूटता। जीवन में शुद्धस्वरूप की ओर का झुकाव मरण के समय भी शुद्धपरिणति में परिणमन और देह के छूट जाने पर भी जहाँ जाय वहाँ 'नमः समयसाराय'—शुद्धस्वरूप में ही परिणमन होता है। स्वरूप की अंतर्दशा में स्वभाव की ओर ही झुकाव है, वह झुकाव केवलज्ञान प्राप्त हुये बिना नहीं छूटता। इस समयसार के नमन में ओर जगत के लौकिक नमन में अंतर है। कहा भी है कि:—

नमन नमन में फेर है बहुत नमै नादान।
दगाबाज दूना नमै चीता चोर कमान॥

नमन-नमन में अंतर होता है। चीता हिरण को मारने के लिये नमता है, और चोर किसी घर में घुस जाने के लिये नमता है और कमान अधिक बलपूर्वक (तीर को छोड़कर) घाव करने के

लिये नमती है। जिस के भीतर छल होता है, वह बाहर दूना नमता है किन्तु यह सब नमन क्षणिक हैं, पराधीन होने के लिये हैं, अशान्ति और परपदार्थों के प्राप्त करने के भाव के लिये है किन्तु यह नमन अविनाशी है, स्वाधीनता और शान्ति के लिये है।

आचार्यदेव कहते हैं कि ''हम राग-द्वेष और शरीर के संयोग को संकुचित करते हैं तथा अन्तर्स्वरूप में नमन करते हैं। अन्तर्मुख होने का फल अंतर में आता है। जितनी वृत्ति बाहर जाती है, उस ओर आदर नहीं है। समस्त संसार और संसार की ओर का जो झुकाव है, उससे हम संकोच करते हैं। बाह्य परपदार्थों के झुकाव से संकोच करके चिदानंद ध्रुव स्वभावी समयसार में समा जाना चाहते हैं। हमें बाह्य संयोग अथवा शरीरादि स्वप्न में भी नहीं चाहिये। अनंत काल से बाह्य भाव किये हैं, अब उस ओर कोई आदर नहीं रहा। पूर्ण होने से पूर्व जो शुभाशुभ होता है, उस ओर भी अब कोई आदर नहीं है। बाहर से हम अब संकोच करते जा रहे हैं और अब हमारा परिणमन भीतर की ओर हो रहा है, वह बाहर से मालूम नहीं होता। अन्तर स्वरूप के झुकाव से केवलज्ञान तक वह सब आत्मा में समा जाता है, उसका फल बाहर दिखाई नहीं देता, उसे कोई रोक नहीं सकता। हमारे नमन में केवलज्ञान की प्राप्ति वापिस नहीं हो सकती''इस प्रकार आचार्यदेव ने 'नमः समयसाराय' में मात्र अप्रतिहत भाव का वर्णन किया है।

'नमः समयसाराय' में 'समयसार' शुद्ध द्रव्य और 'नमः' पर्याय है। समयसार ऐसा शुद्ध त्रिकाल ध्रुव है कि जो शुद्ध परमार्थदृष्टि और नमः पर्याय को बतलाता है। इस प्रकार नमः समयसाराय कहने पर स्वभाव त्रिकाल सिद्ध हुआ और शुद्धपर्याय नई प्रगट होती है, यह भी बता दिया। श्री आनंदघनजी महाराज ने कहा है:—

धर्म जिनेश्वर गाऊं रंगशुं भंग म पडशो प्रीत हो.... जिनेश्वर।

बीजो मन मंदिर आणुं नहीं अे अम कुलवट रीत हो... जिनश्वर।

इसमें भी मात्र शुद्ध स्वभाव की ओर नमन करने की ही बात कही गई है। भंग पड़ने की कोई बात नहीं है। आचार्यदेव कहते हैं कि द्रव्यतः और भावतः स्वभाव को ही नमन करता हूँ। वाणी के द्वारा भी आत्मस्वभाव को ही स्थापित करता हूँ। शुद्ध आत्मस्वभाव त्रिकाल भी है और शुद्ध पर्याय क्षणिक भी है। एकांत ध्रुव अथवा एकांत बदलनेवाला-क्षणभंगुर नहीं है। ध्रुव स्वभाव जो अविनाशी शक्ति के रूप में आनंदघन मौजूद है, उसी की पर्याय प्रगट होकर आयेगी। उस अवस्था को रोकने के लिये विश्व में कोई समर्थ नहीं है। वह अवस्था बाहर से कहीं से नहीं आती।

'नमः समयसाराय' में ही सब आ गया है किन्तु इतने से ही कोई न समझे और कहे कि आत्मा के कोई क्रिया होती है या नहीं ? वीतराग भगवान क्रिया को मानते हैं या नहीं ? उसके लिये कहा है कि 'स्वानुभूत्या चकासते' पहले सामान्य को लिया और उसके बाद अब विशेष को लेते हैं।

आत्मा के स्वरूप का अनुसरण करके अंतर क्रिया उत्पन्न होती है। शरीर, मन और वाणी की क्रिया तो नहीं, किन्तु बाह्य आचरण पर लक्ष्य जाने का जो शुभभाव है, उससे भी प्रगट नहीं होता; किन्तु 'स्वानुभूत्या चकासते' अर्थात् अपने से ही प्रकाशित होता है। अपनी अनुभूति (पर्याय) रूप क्रिया से प्रकाशित होता है। अपने निर्मल वेदन में दयादि के भाव के वेदन का आधार नहीं है। अंतर्स्वभाव की एकाग्रता के द्वारा ही प्रगट होता है, दूसरे से नहीं। यहाँ पर अस्ति से ही बात ली है। अस्ति कहने पर, पर से नास्ति समझ लेना चाहिये।

'है भीतर' इस पर बल लगा और बाह्य झुकाव के भाव को शिथिल कर तथा अंतर स्वभाव पर बल को डाल। जो भीतर है, उस पर जोर लगा तो निर्मलता प्रगट हो जायगी। अंतर्दृष्टि, अंतर झुकाव और अंतर एकाग्रता के बिना मुक्ति नहीं हो सकती, दूसरे सब परिभ्रमण के मार्ग हैं।

अब कोई पूछता है कि जो भीतर था, वही प्रगट हुआ है अथवा कोई नया बाहर से आया है, उसके लिये कहते हैं कि 'चित्स्वभावाय भावाय' 'चित्' अर्थात् ज्ञानमात्र ज्ञानस्वभाव से है, उसके बल से ही निर्मलता प्रगट होती है; इसमें कोई दूसरा बाहर का नहीं आया। जानना ही स्वरूप है, उसमें पर का करने इत्यादि का स्वभाव नहीं है। ज्ञान ही अपना स्वभाव है, उसका पहले विश्वास किये बिना फल नहीं प्रगट होता।

'चित्स्वभावाय' अर्थात् ज्ञान ही स्वभाव है और 'भावाय' के कहने पर—त्रिकाल है। इस प्रकार आंतरिक स्वभाव का विश्वास ही ज्ञान की (आत्मा की) क्रिया है। खाने-पीने की क्रिया आत्मा की नहीं है। खाने-पीने में सुख माना है किन्तु वह कभी देखा नहीं है, फिर भी विश्वास कर रखा है। विनाशी का विश्वास है, वह अज्ञान की क्रिया है और अंतर स्वभाव का विश्वास, ज्ञान की क्रिया है।

गर्मियों में लू चल रही हो, सख्त गर्मी पड़ रही हो, उस समय यदि कहीं से ठंडी हवा आ जाय तो संतोष की सांस ली जाती है, इसका क्या कारण है ? बात यह है कि पहले लू के ऊपर लक्ष्य था; अब शरीर के राग के कारण उस लू पर द्वेष था और ठंडी हवा पर लक्ष्य गया, तब वहाँ शरीर पर

राग है, इसलिये वह संतोष की सांस लेता है क्योंकि ठंडी हवा को उसने सुख का कारण माना हे, उसमें सुख की कल्पना की है, किंतु भाई! वह संतोष पर में नहीं, तुझमें ही है अपने सुखस्वरूप को भूलकर पर में सुख की कल्पना करना, सो तेरा अज्ञान है। तुझे अपनी महिमा का ज्ञान नहीं है—अपना विश्वास नहीं है।

अहाहा! क्या वस्तुस्वरूप है! किन्तु अज्ञानी को अपने ज्ञानस्वभाव की महिमा ज्ञात नहीं है। मेरा ज्ञानस्वभाव ही मेरी शांति का सत्ता स्थान है, यही मेरा सत्ता धाम है-ऐसा विश्वास नहीं है। प्रभु! तेरे ज्ञानस्वभाव के अतिरिक्त खेत, जंगल अथवा बँगले में तेरा सत्ता स्थान नहीं है। स्वाध्यायमंदिर में बैठ जाने से भी शांति नहीं हो सकती। शांति, स्वाध्यायमंदिर में है या तेरे भीतर है? प्रभु! तू चित्स्वभावी है, तेरे आत्मधाम में ही तेरी शांति है, तेरा समाधिमरण किसी बाह्य क्षेत्र से नहीं आयगा किंतु तेरे ज्ञानस्वभाव से ही आयगा, तू ज्ञानस्वभावी वस्तु है।

ज्ञानस्वरूप कैसा है? यह बतलाते हैं।

'सर्वभावांतरच्छिद' मात्र ज्ञानस्वरूप में सर्व पर को—तीन काल और तीन लोक को—एक समय में पूर्णतया जानने का स्वभाव है। जानने में राग नहीं है, विकार नहीं है, निमित्त नहीं है, ऐसा ज्ञानस्वभाव है। ''ऐसे ज्ञानस्वभाव को मैं झुककर नमस्कार करता हूँ। यह नमन पूर्ण होने तक रहता है। पूर्णदशा प्रगट होने पर उसमें वृद्धि की कोई बात नहीं रह जाती, वह ज्यों की त्यों बनी रहती है।'' इस प्रकार आचार्यदेव ने समयसार में झुककर नमस्कार किया है और समयसार के शुद्धस्वरूप का वर्णन करके अपने शुद्ध आत्मा को ही इष्टदेव मानकर मांगलिक के रूप में उसे ही नमस्कार किया है।

दया, दान इत्यादि का वास्तविक स्वरूप

करुणाभाव राग भाव है, शुभभाव है, विकार है, इसलिये विकार के करते-करते अविकारीपन प्रगट हो जाय, यह कदापि नहीं बन सकता।

[श्री रामजीभाई माणेकचंद दोशी]

सुखचंद—'स्ववश' और 'परवश' के संबंध में (आत्मधर्म वर्ष १, अंक ८ पृष्ठ ११७ में) विवेचन किया गया था, उससे मैं यह समझा हूँ कि 'स्ववश' का अर्थ आत्मा के वश में होता है अर्थात् आत्मा के शुद्ध स्वभाव के वश में होता है, और जो राग के वश में होता है, वह 'परवश' है। अब इस संबंध में और अन्य विषय पर चर्चा की जाय तो कैसा हो।

ज्ञानचंद—बहुत अच्छा। मैं भी इसके लिये तैयार हूँ।

सुखचंद—मैं अभी एक सभा में गया था, वहाँ एक भाई ने अपने भाषण में कहा कि—''गरीबों को दान देना धर्मानुष्ठान है।'' इस संबंध में आपका क्या मत है ?

ज्ञानचंद—इसमें आपको शंका क्यों हुई ?

सुखचंद—मैंने इस संबंध में विचार किया है कि इस जीव ने अनादि काल में कभी करुणा भाव से दान न दिया हो, यह कैसे हो सकता है और यदि तब धर्म नहीं हुआ तो अब कैसे होगा ? इस प्रकार विचार करने पर बहुत मनोमंथन हुआ और कोई निर्णय नहीं हुआ, तब आपसे यह प्रश्न पूछा है।

ज्ञानचंद—दान देते समय यदि शुभपरिणाम होता है तो पुण्य होता है, धर्म नहीं होता।

सुखचंद—आप इसे पुण्य कहते हैं, इसका क्या कारण है ?

ज्ञानचंद—देखिये, सम्यग्दर्शन के बिना इस जीव ने अनंतबार महाव्रतों का पालन किया, उनमें अतिचारों को नहीं आने दिया, फिर भी धर्म नहीं हुआ किन्तु पुण्य हुआ, जिसका फल देवगति की प्राप्ति हुई। आपने यह सब सुना है कि नहीं।

सुखचंद—हाँ, मैंने यह सुना है, तो क्या आप यह कहना चाहते हैं कि पुण्य, धर्म नहीं है।

ज्ञानचंद—लोग पुण्य को धर्म कहते हैं और मानते हैं, इसलिये उसे 'लौकिक धर्म' कहना हो तो भले कहो किन्तु वह सत्यधर्म नहीं है।

सुखचंद—भले वह सत्यधर्म न हो किन्तु वह धर्मानुष्ठान तो है ही ?

ज्ञानचंद—भाई, वह धर्मानुष्ठान है या नहीं, इस पर हम और आप विचार करें। 'धर्मानुष्ठान' शब्द तीन पद से बना है जो निम्न प्रकार है:—

धर्म+अनु+स्थान=धर्म के अनुसार आत्मा में स्थित रहना, सो धर्मानुष्ठान है। अब आपको फौरना ध्यान में आ जायगा कि यदि उस भाव से धर्म का अंश भी होता हो तो आज जीव में शुद्धता के अनेक अंश प्रगट रूप में दिखाई देना चाहिये अथवा संपूर्ण पवित्रता दिखाई देना चाहिये। जिसके धर्म का एक अंश प्रगट हो जाता है, उसके क्रम क्रम से संपूर्ण धर्म प्रगट हुये बिना नहीं रह सकता और यदि दान से धर्म होता हो तो गरीब धर्म नहीं कर सकें, क्योंकि उनके पास रुपया-पैसा नहीं है और ऐसा होने पर धर्म पैसेवालों के लिये ही हो जायेगा; किन्तु ऐसा नहीं होता क्योंकि धन तो परवस्तु है, परवस्तु के द्वारा आत्मा का धर्म हो ही नहीं सकता।

सुखचंद—यदि गरीब पैसा नहीं दे सकता तो न सही, किन्तु जो दूसरे लोग द्रव्य दान करते हैं, उनका अनुमोदन तो कर सकता है और इस प्रकार गरीब के भी धर्म हो सकता है। करना, कराना और अनुमोदन करना, इन तीनों भावों का एक-सा लाभ माना गया है। इसलिये गरीब इस प्रकार से धर्म कर सकता है।

ज्ञानचंद—इसका अर्थ तो यह हुआ कि पर के आधार से धर्म होता है। अर्थात् पैसे के द्वारा (जो वस्तु जीव से पर है उसके आधार से) धनाढ्य के धर्म होता है और गरीब उसका अनुमोदन करें अर्थात् धनाढ्य पैसे के आधार से जो धर्म करते हैं, गरीब उसका अनुमोदन करें तो धर्म हो जायगा। यदि ऐसा सिद्धान्त हो तो धर्म जड़-परवस्तु के आधीन होगा, किन्तु धर्म तो आत्मा का निज स्वभाव है। अपना स्वभाव तो अपने में ही होता है, इसलिये अपना शुद्ध स्वभाव ही धर्म कहलाता है। यदि जीव अपने स्वभाव को ठीक-ठीक समझ ले तो वह धर्म प्रगट कर सकता है, उसके बिना कदापि धर्म नहीं हो सकता।

सुखचंद—ठीक है, धर्म आत्मा का स्वभाव है, यह भी सच है। वे व्याख्यानदाता भी धर्म की ऐसी ही व्याख्या कर रहे थे किन्तु वे यह भी कह रहे थे कि हम दान देते हैं, सेवा करते हैं, तो पुण्य है और वह धर्म को प्रेरित करता है, इसलिये सत् अनुष्ठान कहलाता है—सहायक कहलाता है। इस संबंध में आपका क्या मत है ?

ज्ञानचंद—यदि यह भाव धर्म को प्रेरित करता हो तो धर्म का अनंतवां भाग भी उससे प्रगट होना चाहिये और यदि उससे अनंतवाँ भाग भी प्रगट होता हो तो हम जैसे-जैसे दान सेवा इत्यादिक

अधिकाधिक करेंगे, वैसे ही वह दान सेवा इत्यादि धर्म को प्रेरित करते रहेंगे और धर्म बढ़ता चला जायेगा, किन्तु ऐसा तो कहीं होता नहीं है। अनेक ऐसे आदमी होते हैं कि जो अपना नाम प्रगट किये बिना गरीबों को दान देते रहते हैं, सेवा करते हैं, दया का पालन करते हैं फिर भी उन्हें आत्म-स्वरूप की कोई खबर नहीं होती। इस प्रकार पुण्यभाव उनके लिये न तो धर्म का प्रेरक होता है और न सहायक ही, तब फिर दूसरों के लिये तो कैसे हो सकता है।

सुखचंद—इसका क्या कारण है ?

ज्ञानचंद—करुणाभाव रागभाव है, शुभभाव है, वह विकार है। विकार करते-करते अविकारीपन प्रगट हो जाये, ऐसा कदापि नहीं हो सकता। हाँ, विकारों को दूर करते-करते अविकारीपन प्रगट होता है।

सुखचंद—आपने जो कहा है, वह मैं समझ गया हूँ। पाप को दूर करके पुण्य करना पाप की अपेक्षा अच्छा है। क्योंकि उसमें मंदकषाय है; किन्तु वह आत्मधर्म की अपेक्षा से ठीक नहीं है; क्योंकि वह मंद-कषाय भी विकार है और विकार कभी भी अविकार को प्रेरित नहीं करता, अथवा उसमें वह सहायक नहीं होता। यदि आप इस प्रकार कहना चाहते हैं तो मैं उसे स्वीकार करता हूँ।

ज्ञानचंद—ठीक है, पुण्य धर्म नहीं है, यह कहकर पुण्य का स्वरूप समझाया गया है। इसका अर्थ यह नहीं है कि जो शुद्ध स्वभाव को समझता तो है किन्तु एकदम उसे अमल में नहीं ला सकता, उसे पुण्य छोड़कर पाप करना चाहिये। किन्तु उसका अर्थ तो यह है कि पाप कदापि नहीं करना चाहिये। जहाँ तक वीतराग नहीं हो जाता, वहाँ तक मुमुक्षु जीव के जो राग है, वह सच्चे देव, सच्चे शास्त्र और सच्चे गुरु की ओर तथा करुणा भाव की ओर झुके बिना नहीं रहेगा। तथापि वह जीव, राग को 'धर्म' कदापि नहीं मानेगा, उसे वह 'धर्म' नहीं मानता; इसलिये वह शुभभाव को दूर करके शुद्ध में जाने का प्रयत्न करेगा और क्रमशः पूर्ण शुद्धता प्रगट करेगा। अब कहिये कि जो जीव यथार्थ स्वरूप को समझ लेगा, वह लोभ को कम करेगा या नहीं ?

सुखचंद—अवश्य वह लोभ को कम करेगा। उसके लोभ को कम करने का भाव अवश्य होगा; जिसके परिणाम स्वरूप दान हुये बिना नहीं रहेगा। हाँ, उसके ऐसा अभिमान नहीं होगा कि मैं दूसरों को दान दे रहा हूँ। जितने अंश में अपने में सुधार होगा उतने अंश में स्वयं निज को दान दिया ऐसा वह मानेगा। क्यों यह ठीक है न ?

ज्ञानचंद—हाँ, यह ठीक है—किन्तु मात्र इतना ही नहीं है। जीव के यथार्थ स्वरूप को

समझनेवाला यह मानता है कि—जो पैसा है, वह मेरा नहीं है, वह जड़ है, मैं उसका स्वामी नहीं हूँ, वह मैं न तो किसी को दे सकता हूँ और न किसी से ले सकता हूँ, किन्तु उस पर मेरी जो आसक्ति है, उसे दूर करना ही चाहिये और आसक्ति दूर होने पर पैसा जिस जगह जाना चाहिये, वहाँ अपने कारण से गये बिना नहीं रहेगा। यदि मैं ऐसा मानूं कि मैंने जड़ का दान किया है तो मैं जड़ का स्वामी हुआ; किन्तु वास्तव में यह बात नहीं है। मैंने तो अपने लाभ के लिये अपना लोभ कम किया है, उसका मेरे—अपने ऊपर उपकार है। और अभी जो लोभ शेष रह जाता है, वह मेरे लिये हानि कारक है, इसलिये उसे दूर करूँ तो ही मुझे पूरा लाभ हो।

सुखचंद—आपकी बात मुझे न्यायपूर्ण मालूम होती है और भाषण कर्ता का अभिप्राय ठीक नहीं है, ऐसा मुझे विश्वास हो गया है। वे व्याख्याता और भी बहुत कुछ कह रहे थे। उस संबंध में भी चर्चा करना आवश्यक है किन्तु वह जब दूसरी बार मिलेंगे तब होगी।

ज्ञानचंद—बहुत अच्छा।

(दोनों मित्र पृथक् होते हैं।)

(२)

(दोनों मित्र पुनः मिलते हैं।)

सुखचंद—वे भाषण कर्ता कह रहे थे कि "गरीब भले ही दान न कर सके तो क्या हो गया? धर्म के दूसरे अनेक अंग हैं। जैसे-दया, गुरुसेवा इत्यादि। वह इन्हें तो कर सकता है, यह सब धर्मानुष्ठान है। यदि ऐसा न माना जाय तो जगत में दया, दान इत्यादि अनुष्ठान रहेंगे ही नहीं।" अब हम यहाँ पर दया के संबंध में कुछ विचार करें।

ज्ञानचंद—भाषणकर्ता ने जो कहा था वैसा ही आपका मत है, यह मानकर यदि हम आगे चर्चा चलायें तो कैसा हो?

सुखचंद—नहीं, ऐसा नहीं है। मेरे वह विचार नहीं हैं। मैं तो अभी निर्णय करना चाहता हूँ; इसीलिये आप से पूछा है। भाषणकर्ता ने जो कुछ कहा था, मैं तो उसका भाव समझने के लिये आप के पास आया हूँ।

ज्ञानचंद—जैसा कि आप कह रहे हैं, वैसे विचार उन भाषणकर्ता के अतिरिक्त कुछ अन्य लोगों के भी हैं, इसलिये उन विचारों की परीक्षा करना आवश्यक है।

सुखंचद—तब आप ही बताईये कि दया धर्म का अंग है कि नहीं?

ज्ञानचंद—दया के स्वरूप का विचार करने से पूर्व मैं यह जानना चाहता हूँ कि 'दया' शब्द से आप का अभिप्राय क्या है ? उसकी थोड़ी व्याख्या कीजिये।

सुखचंद—दया शब्द सुप्रसिद्ध है, उसके व्याख्या की आवश्कता ही क्या है ? आबालवृद्ध सभी जानते हैं कि जीव की हिंसा नहीं करना, सो दया है।

ज्ञानचंद—ठीक है, किन्तु यह व्याख्या अपूर्ण है। आपने यह तो स्पष्ट किया ही नहीं कि अपने जीव की हिंसा न करना दया है, अथवा पर जीव की। इसे कुछ स्पष्ट कीजिये।

सुखचंद—अपने जीव की हिंसा भला, कैसे होती होगी ? पर जीव को नहीं मारना, सो दया है; इस प्रकार का अर्थ लोक में प्रचलित है। क्या आप कोई दूसरा ही अर्थ करना चाहते हैं ?

ज्ञानचंद—मैं क्या अर्थ करना चाहता हूँ, यह तो यहाँ प्रश्न नहीं है। प्रश्न तो यह है कि भाषणकर्ता दया का क्या अर्थ कर रहे थे ?

सुखचंद—भाषणकर्ता यह कहना चाहते थे कि दूसरे जीव को नहीं मारना, सो दया है, इसलिये मैं उस का अर्थ अधिक स्पष्ट करने के लिये आपके पास उपस्थित हुआ हूँ।

ज्ञानचंद—तब क्या जीव ने पहले जो अनंत बार महाव्रत पालन किये थे, तब जीव हिंसा की थी ?

सुखचंद—ऐसा कैसे कहा जा सकता है। निरतिचार महाव्रतों के पालन करने पर ही जीव

निश्चय और व्यवहार = मोक्ष और संसार

१– जीव का त्रैकालिक चैतन्य ध्रुवस्वभाव निश्चय है और वर्तमान प्रवर्तित पर्याय व्यवहार है।

२– व्यवहार को वर्तमान पर्यायमात्र तक वह जैसा है, वैसा न जाने, सो एकान्त है।

३– व्यवहार को आदरणीय मानना, सो एकान्त है और मात्र उसे जानना, सो अनेकान्त है।

४– निश्चय और व्यवहार दोनों जैसे हैं, उन्हें वैसा ही जानकर निश्चय को ग्रहण करना–उसका आश्रय करना, सो अनेकान्त है। निश्चयाधीन शुद्ध अवस्था प्रगट होती है।

५– परवस्तु से मुझे हानि–लाभ होता है, तथा वह परवस्तु और मैं एक हूँ, यह मानना, सो एकान्त है।

६– निश्चय और व्यवहार दोनों ज्ञातव्य हैं, किन्तु इनमें से आदरणीय मात्र निश्चय ही है।

७– निश्चय का आश्रय है मोक्षमार्ग और व्यवहार का आदर है संसारमार्ग।

नवमें ग्रैवेयक में देवगति में जाता है और (आत्मा की पहिचान न हो तो) वह पुनः संसार चक्र में परिभ्रमण करता रहता है, ऐसा सुना है। इसलिये पहले जीव ने अनंत बार वैसी दया पालन की है, यह तो मानना ही चाहिये।

ज्ञानचंद—यदि ऐसा है तो जब उस समय धर्म नहीं हुआ, तब आज कैसे होगा?

सुखचंद—भले धर्म न हो किंतु धर्म का अनुष्ठान तो होगा ही? और उसे सद्व्यवहार तो कहना ही होगा? वह परमार्थ को तो प्रेरित करेगा न?

ज्ञानचंद—पर जीव को नहीं मारने का विकल्प होना, सो रागभाव है, या वीतरागभाव है?

सुखचंद—यह विकल्प तो वीतराग के नहीं होता। अरे! वीतराग को तो क्या किंतु अप्रमत्त साधु के भी ऐसा विकल्प नहीं उठता कि इस जीव को बचाऊँ तो ठीक। इसलिये यह कहना ही होगा कि जो विकल्प उठता है, सो रागभाव है।

ज्ञानचंद—तब यह बताइये कि जो रागभाव है, वह वीतरागभाव को प्रेरित कर सकता है? यदि अल्पराग, वीतरागभाव को प्रेरित करता है तो विशेष राग अधिक वीतरागभाव को प्रेरित करेगा, यह कहना होगा। रागभाव, वीतरागभाव को प्रेरित नहीं करता; इसलिये वह सद् अनुष्ठान या सद्व्यवहार नहीं है।

सुखचंद—किन्तु जैसा आपने ऊपर कहा है, उस प्रकार यदि दया को धर्म में नहीं गिनेंगे तो फिर लोग दया का पालन क्यों करेंगे?

ज्ञानचंद—जो यथार्थ को समझ लेगा, उसे हानि होगी-यह मानना योग्य नहीं है। असत्य से लोगों को अथवा समाज को लाभ होता है, यह माननेवाले वैसा कह सकते हैं। जबतक पूर्ण वीतरागता नहीं हो जाती, तब तक जीव के कषायचक्र में पुण्यभाव आये बिना कैसे रहेगा? सम्यग्दृष्टि के पुण्य की इच्छा न हो, फिर भी बहुत उच्च पुण्य का बंध होता है, मिथ्यादृष्टि के वैसा पुण्य नहीं होता। अज्ञानी जीव अनादि काल से पुण्य-पाप करता चला आता है और जबतक नहीं समझता, तबतक उन्हें अज्ञानपूर्वक करता रहेगा तथा पुण्य को धर्म मानेगा। यह नियम है कि प्रत्येक जीव को जो ठीक लगता है, वह अपनी वैसी ही धारणा बना लेता है, यही प्रत्येक जीव की स्वतंत्रता को सिद्ध करता है। असत् प्ररूपणा क्यों की जाय? सत् प्ररूपणा से किसी जीव को हानि हो ही नहीं सकती। प्रत्युत सुधार ही होता है।

सुखचंद—विकारी जीवों के पुण्य-पाप का चक्र चलता ही रहता है, यह आपने जो कहा

है, वह ठीक समझ में नहीं आता, इसलिये कुछ अधिक स्पष्ट कीजिये।

ज्ञानचंद—विकार आत्मा का स्वभाव नहीं है किंतु दोष है। विकार का स्वरूप ऐसा है कि वह कम-बढ़ होता रहता है किन्तु एक-सा नहीं रहता। जैसे किसी को बुखार आया हो तो वह कभी ९९ डिग्री हो जाता है और कभी १०२ डिग्री हो जाता है किन्तु जब बुखार उतर जाता है तब ९९ डिग्री (Normal) एकसा रहता है, इस प्रकार विकार भी एकसा नहीं रहता। इस सिद्धांत के अनुसार जीव को अपने भावानुसार भिन्न-भिन्न गतियाँ प्राप्त होती हैं। जब अत्यंत क्रूरता करता है तो नारकी होता है और अधिक पुण्यभाव करता है तो स्वर्ग में देव होता है, माया करने से तिर्यंच होता है और पुण्य-पाप के मध्यम परिणाम करने से मनुष्य होता है। इस प्रकार पुण्य-पाप का चक्र चलता रहता है और विकार भी परिवर्तित होते रहते हैं। एवं शुभाशुभ कषायचक्र अज्ञानी के चलता ही रहता है।

सुखचंद—तब क्या जीव को अनादि काल से पुण्य-पाप करना ही आता है ?

ज्ञानचंद—है तो बात ऐसी ही। यदि निगोद में जीव पुण्यभाव न करे तो वह त्रस कैसे हो ? वह अपने शुभभाव से ही होता है। निगोद में न तो श्रवणेन्द्रिय है और न कोई उपदेशक है, वहाँ न किसी जीव की दया का पालन होता है और न दान ही होता है, फिर भी वह त्रस हुआ और मनुष्य हुआ। यह सब शुभभाव उसने स्वयं किये, इसलिये उसे यह गति प्राप्त हुई।

सुखचंद—जब शुभभाव राग है, बंध का कारण है, धर्म का अनुष्ठान नहीं। धर्म को वह प्रेरित नहीं करता, वह सद्व्यवहार नहीं है, मैं यह समझ सका हूँ किन्तु शुभभाव तो ज्ञानी जीव भी करते हैं, सो क्यों ?

ज्ञानचंद—यह प्रश्न बहुत अच्छा है। यदि आप स्वयं ही इस पर विचार करेंगे तो ठीक होगा और जब हम पुनः मिलेंगे, तब इस प्रश्न पर विचार करेंगे, किन्तु पहले यह विचार करेंगे कि दया का वास्तविक अर्थ क्या है ?

(दोनों मित्र अलग होते हैं)

(३)

(दोनों मित्र फिर मिलते हैं।)

सुखचंद—आप दया किसे कहते हैं, उसका क्या स्वरूप है ?

ज्ञानचंद—दया के दो विभाग हैं स्वदया और परदया।

सुखचंद—भला, यह स्वदया क्या है ? क्या अपनी भी दया होती है ?

ज्ञानचंद—अपनी हिंसा और अहिंसा दोनों हो सकती हैं। अपनी अहिंसा को अपनी दया भी कहा जा सकता है। जीव अनादि से अपनी शुद्धता की हिंसा कर रहा है, उसे दूर करना, सो अपनी अहिंसा अथवा अपनी दया है।

सुखचंद—क्या ऐसा अर्थ और भी कहीं किया गया है ?

ज्ञानचंद—हाँ, श्रीमद् राजचंद्रजी ने कहा है कि—

(१) क्षण क्षण भयंकर भाव मरणे कां अहो ! राची रहो।

'भाव निद्रा टालो'

क्षण क्षण भयंकर भाव मरण कहां अरे तू रच रहा।

'भाव निद्रा टाल'

(२) श्री समयसार की स्तुति में प्रथम पंक्ति में कहा है कि—

'संसारी जीव के भाव मरण को टालने के लिये करुणा की-सरिता बहाई।'

(३) हिंदी आत्मधर्म वर्ष १, अंक ४ पान ४८ में ''अहिंसा के स्वरूप'' इस लेख में भी कहा है।

सुखचंद—ठीक है, किन्तु परदया का अर्थ क्या है ?

ज्ञानचंद—दूसरे जीव को मार नहीं डालने का अथवा दु:ख न देने का जो अपना शुभभाव है, सो परदया है।

सुखचंद—स्वदया का स्वरूप क्या है ?

ज्ञानचंद—स्वदया, स्वरूपदया और निश्चयदया का स्वरूप निम्न प्रकार है:—

स्वदया—यह आत्मा अनादि काल से मिथ्यात्व से ग्रसित है, तत्त्व को प्राप्त नहीं कर पाता, जिनाज्ञा को पालन नहीं कर सकता, इस प्रकार चिंतवन करके धर्म में प्रवेश करना, सो स्वदया है।

स्वरूपदया—सूक्ष्म विवेक से स्वरूप का विचार करना सो स्वरूपदया है।

निश्चयदया—शुद्ध-साध्य उपयोग में एकता भाव और अभेद उपयोग का होना, सो निश्चयदया है।

निश्चयधर्म—अपने स्वरूप के भ्रम को दूर करना, आत्मा को आत्मभाव से पहचानना, यह संसार मेरा नहीं है, मैं इससे भिन्न परम असंग सिद्ध समान शुद्ध आत्मा हूँ; इस प्रकार आत्मस्वभाव में वर्तन करना, सो निश्चयधर्म है। मोक्षमाला पाठ-९

सुखचंद—इस संबंध में मैं विचार करूँगा और आवश्यकता होगी तो आपसे पुछूँगा। इस समय तो आप यह बताइये कि सम्यग्ज्ञानी शुभभाव (दया, दान इत्यादि) कैसे करता है ?

ज्ञानचंद—आत्मा एक परिपूर्ण चैतन्यद्रव्य है और इसलिये स्वयं अपने स्वभाव में परिपूर्ण है, इस प्रकार सम्यग्ज्ञानी जीव मानता है और वह अपने ध्रुव स्वभाव में स्थिर होने के लिये बारंबार प्रयत्न-पुरुषार्थ किया करता है। अपने स्वरूप में स्थिर रहने का पुरुषार्थ करते हुये जब स्वरूप में स्थिर नहीं हो सकता, तब अशुभभाव दूर होते हैं किंतु शुभभाव रहते हैं, उनका स्वामित्व इसके नहीं है, वह तो उस राग का ज्ञाता है। यदि प्रकारांतर से कहा जाय तो ज्ञानी की दशा निम्न प्रकार है:—

(१) दृष्टि की अपेक्षा से वह अपने को परिपूर्ण मानता है।

(२) ज्ञान की अपेक्षा से अपने त्रैकालिक शुद्ध स्वभाव को, अपने में होनेवाली शुद्धता को और अवशिष्ट अशुद्धता को जानता है अर्थात् वह उसका ज्ञाता है।

(३) चारित्र की अपेक्षा से अपने में अवशिष्ट अशुद्धभाव को (शुभाशुभभाव को) विष-तुल्य मानता है और उसी को दूर करने के लिये पुरुषार्थ होता है।

इस प्रकार जब शुद्धता में नहीं टिका जा सकता, तब उसके शुभभाव होता है और उस शुभभाव के अनुकूल बाह्य पदार्थों का प्रसंग-संयोग रहता है। जगत् के जीव मुख्यतया बहिर्दृष्टि हैं और अपने को तथा ज्ञानी को बाह्य संयोग से समान अथवा अधिक देखकर ज्ञानी का भाव अपने जैसा ही है, ऐसी कल्पना करते हैं। इसलिये जिस प्रकार लोग मानते हैं, वैसी दया, दान ज्ञानीजन करते होंगे, इस प्रकार बहिर्दृष्टि मानते हैं। किन्तु ज्ञानीजन तो अपने में होनेवाली कषाय को अकषायस्वरूप की दृष्टि के द्वारा दूर करना चाहते हैं और वह क्रमशः होती है; इसलिये बीच में शुभभाव आ जाता है, किन्तु ज्ञानीजन उस शुभभाव को कदापि धर्म नहीं मानते। उसे धर्म में प्रेरक आदरणीय अथवा सहायक नहीं मानते, जिसे 'प्रेरक' 'भला' आदरणीय अथवा सहायक मान लिया, उसे त्याज्य कैसे माना जा सकता है ? इस प्रकार ज्ञानियों और जगत् के अन्य लोगों की मान्यता में बड़ा अंतर है। जगत के उन जीवों की मान्यता संपूर्ण विपरीत है। मान्यता में आमूल अंतर है।

सुखचंद—यथार्थ श्रद्धा होने के बाद चारित्र वैसा ही होना चाहिये, सो क्यों नहीं होता ?

ज्ञानचंद—यथार्थ श्रद्धा और सच्चा ज्ञान एक ही साथ होता है, किन्तु चारित्र में क्रम हुये

बिना नहीं रहता। मेरे एक मित्र बारंबार यही तर्क किया करते हैं। इसलिये यह नियम समझाने के लिये उन्हें जो उदाहरण देता हूँ, वे इस प्रकार हैं:—

१- हमने यह निश्चय किया कि हमें अपने भाई के यहाँ जाना है, वहाँ जाने में हमें लाभ है किन्तु उस निश्चय के साथ तत्काल ही भाई के घर नहीं जा सकते, नहीं पहुँच सकते, यदि हवाई जहाज में जाय तो भी उसी समय नहीं पहुँच सकते। कार्य करने के निश्चय और कार्य पूर्ण करने की बीच अंतर होती ही है।

२- हम विपरीत मार्ग पर चल रहे हैं, यह ज्ञात होने पर वहाँ से आगे बढ़ने से रुक जाते हैं और फिर वहाँ से मुँह फेरकर पुराने मार्ग पर चलने लगते हैं। उस पुराने मार्ग के पूर्ण हो चुकने पर नवीन मार्ग पर चलते हैं और तब उसके अन्त में स्वस्थान पर पहुँच जाते हैं। (यह दृष्टांत है।)

सुखचंद—यह तो आपने परवस्तु का दृष्टान्त दिया है। अपना दृष्टान्त क्यों नहीं दिया?

ज्ञानचंद—परवस्तु जो परिज्ञात होती है, उसी का दृष्टान्त दिया जाता है। वह सर्वांशतः सिद्धान्त पर लागू नहीं होता; किन्तु उस पर से सिद्धान्त को पकड़ लेना चाहिये। आत्मा को दृष्टान्त नहीं बनाया जा सकता, क्योंकि वह तो अनुभव का विषय है। जिसे आत्मा का अनुभव नहीं होता, उसी के लिये दृष्टान्त की आवश्यकता होती है। जो समझ चुका है, उसे दृष्टान्त की क्या आवश्यकता है? जो समझना चाहता है, उसी के लिये दृष्टान्त की जरूरत होती है। और यदि उसे परिचित वस्तु का दृष्टान्त दिया जाय, तभी वह समझता है।

सुखचंद—किसी भी जीव के श्रद्धा और चारित्र समान होते हैं?

ज्ञानचंद—हाँ, केवली भगवान के और सिद्ध भगवान के समान होते हैं; छद्मस्थ के नहीं हो सकते।

सुखचंद—इसका क्या कारण है?

ज्ञानचंद—सम्यग्ज्ञानी के आंशिक राग दूर हुआ है और आंशिक विद्यमान है, उसे दूर करने का वह प्रयत्न करता है। वह यह जानता है कि मैं सरागी अवस्था में हूँ। इसलिये जब तक राग होता है, तब तक चारित्र पूर्ण नहीं होता।

यहाँ यह ध्यान में रखना चाहिये कि वह न तो किसी को प्ररूपित करता है और न मानता ही है कि 'स्वयं सराग है, इसलिये राग के कृत्य करना चाहिये—यह अपना धर्म है।' यदि ऐसी प्ररूपणा की जायेगी तो कहना होगा कि सराग अवस्था में राग आदरणीय है। और ऐसी मान्यता सच्चे ज्ञानी के हो नहीं सकती।

हितकारी ५ सिद्धान्त

१– जैनदर्शन अनेकांतस्वरूप है, वह प्रत्येक वस्तु को अनेकांत स्वरूप बतलाता है अर्थात् प्रत्येक द्रव्य स्व से अस्तिरूप और पर से नास्तिरूप है। यह अनेकांत ही वस्तु स्वरूप को समझने का उपाय है और इसी से जैनदर्शन की महत्ता है।

२– एक द्रव्य (तत्त्व) दूसरे द्रव्य का तीन लोक और तीन काल में किंचित्मात्र भी कुछ नहीं कर सकता, यह निश्चय करके सत् शास्त्रों का अर्थ समझना चाहिये।

३– प्रत्येक तत्त्व स्वतंत्र है, स्वयं निज से अस्तिरूप है और पर से नास्तिरूप है; इसलिये कोई द्रव्य एक–दूसरे का कोई भी कार्य करने में समर्थ नहीं है।

४– प्रत्येक द्रव्य भिन्न–भिन्न है, इसलिये प्रत्येक द्रव्य के गुण और उसकी पर्यायें भी त्रिकाल भिन्न–भिन्न है और वे उस द्रव्य के आधार से होती है। किसी द्रव्य के गुण–पर्याय दूसरे द्रव्य के आधार से नहीं होते।

५– जीव स्वयं अन्य अनंत परपदार्थों से भिन्न है, इसलिये कोई परपदार्थ जीव को हानि–लाभ नहीं पहुँचा सकता। अर्थात् यदि जीव समझने का पुरुषार्थ करे तो उसे कोई रोक नहीं सकता क्योंकि वह स्वयं सर्व परवस्तुओं से भिन्न है। इसलिये वह अपना पुरुषार्थ स्वयं स्वाधीनता से कर सकता है।

जगत् के सर्व द्रव्य स्व से अस्तिरूप और पर से नास्तिरूप—ऐसा अनेकांतस्वरूप है। इस अनेकांत के द्वारा वस्तुस्वरूप की स्वतंत्रता और पूर्णता को मानकर, यदि सत् शास्त्रों के प्रत्येक कथन का अर्थ किया जाय तो ही उसका वास्तविक रहस्य ज्ञात हो सकता है। इसलिये किसी भी सत् शास्त्र को पढ़ते समय उपरोक्त पाँच सिद्धान्तों को ध्यान में रखना चाहिये।

मतिज्ञान में केवलज्ञान प्रत्यक्ष या परोक्ष ?

महान शास्त्र श्री जयधवला शीर्षक से दो लेख गुजराती आत्मधर्म में दिये गये हैं, उनमें श्री जयधवला के ४४ पृष्ठों में से कुल ३३ पहरे दिये गये हैं। उनमें से २०, २१, २२ तथा ३३ वें पहरे में गंभीर आशय निहित है, उस पर पूज्य श्री कानजीस्वामी ने जो विवेचन किया है, वह अत्यंत आवश्यक होने से यहाँ दिया जाता है— सं.।

जीव का स्वरूप केवलज्ञान है, वह केवलज्ञान समस्त प्रकार के आवरणों का नाश होने पर प्रगट होता है तथा उस केवलज्ञान पर जितने अंश में आवरण आता है, उसके अनुसार कर्म को मतिज्ञानावरण, श्रुतज्ञानावरण इत्यादि भेद करके नाम दिये जाते हैं और उस समय केवलज्ञान का जितना अंश प्रगट रहता है अर्थात् जितने भाग पर आवरण नहीं है, उस भाग के क्षयोपशमानुसार मतिज्ञान, श्रुतज्ञान इत्यादि नाम रख दिये जाते हैं। केवलज्ञान कभी भी संपूर्णतया आवृत नहीं होता क्योंकि यदि ज्ञान संपूर्णतया आवृत हो जाय तो ज्ञान का अभाव हो जाय और ऐसा होने पर जीव को जड़त्व का प्रसंग आ जाय किन्तु ऐसा होना अशक्य है। अर्थात् केवलज्ञान का अमुकभाग (अंश) तो जीव की चाहे जिस अवस्था के समय भी खुला होता ही है।

मुमुक्षुओं के प्रति गुरुवर्य का प्रश्न है कि—"केवलज्ञान प्रत्यक्ष है या परोक्ष ?"

मुमुक्षुओं का उत्तर—केवलज्ञान का विषय प्रत्यक्ष है।

गुरुदेव-केवलज्ञान के विषय के संबंध में नहीं पूछा है किन्तु यह पूछा गया है कि मतिज्ञान में केवलज्ञान प्रत्यक्ष है या परोक्ष ? श्री जयधवला में इस संबंध में जो कुछ कहा गया है, उसे सुनिये—

मतिज्ञान में केवलज्ञान प्रत्यक्ष है, इसका विशेष स्पष्टीकरण इस प्रकार है:—

(१) केवलज्ञान पूर्ण स्वरूप है अर्थात् अंशी (संपूर्ण वस्तु) है और मतिज्ञान अधूरा ज्ञान अर्थात् केवलज्ञान का अंश (भाग) है। जिसका एक अंश प्रत्यक्ष है, वह अंशी भी प्रत्यक्ष ही है। एक अंश प्रत्यक्ष हो और अंशी प्रत्यक्ष न हो, यह नहीं हो सकता। इस प्रकार मतिज्ञान, केवलज्ञान का अंश होने से "अंश प्रत्यक्ष है, वहाँ अंशी भी प्रत्यक्ष ही है" इस न्याय के अनुसार मतिज्ञान में केवलज्ञान प्रत्यक्ष ही है।

(२) अंशी और अंश अर्थात् वस्तु और वस्तु का भाग दोनों पृथक् नहीं किन्तु अभिन्न हैं, इसलिये एक के प्रत्यक्ष होने से दोनों का प्रत्यक्ष होना सिद्ध होता है। अंश नाम भी अंशी की अपेक्षा से है।

(३) अब इसे दृष्टांत से सिद्ध करते हैं—जैसे किसी खंभे को देखकर लोग कहते हैं कि सारा स्तंभ दिखाई दे रहा है, इस प्रकार कहने का व्यवहार जगप्रसिद्ध है। वहाँ (स्तंभ को देखने से) यद्यपि इंद्रिय का स्थूल विषय है, तथापि उसमें अंश देखकर भी सारी वस्तु को देखना स्वीकार करता है किन्तु यह केवलज्ञान तो अतीन्द्रिय है और उसका अंश मतिज्ञान प्रत्यक्ष है; इसलिये मतिज्ञान में केवलज्ञान भी प्रत्यक्ष ही है (लोगों को परवस्तु में व्यवहार की बराबर खबर हो जाती है किन्तु अपनी वस्तु में भरोसा नहीं बैठता। वह अपनी सामर्थ्य को स्वीकार ही नहीं करता, इसलिये उसकी दृष्टि बाह्य में पर के ऊपर जाती है)।

आँख के विषय में वस्तु का एक भाग दिखाई देने पर कहता है कि मैंने सारी वस्तु को देख लिया, तब स्व की अपेक्षा से अपनी पर्याय का जो अंश स्पष्ट हुआ है, वह 'संपूर्ण द्रव्य प्रत्यक्ष है' यह स्वयं न कहे तो फिर कौन कहेगा? समोशरण में जाकर भगवान के शरीर का बाह्य भाग ही देखता है किन्तु बाहर आकर कहता है कि "मैंने भगवान के प्रत्यक्ष दर्शन किये हैं" यहाँ पर (आँख के विषय में) प्रत्यक्ष मानता है; उसी प्रकार स्व में निश्चय का अंश स्पष्ट हो गया है, उसमें सारी वस्तु प्रत्यक्ष ही है। संपूर्ण ज्ञान के आश्रय से जो ज्ञान का अंश प्रगट हुआ है, उस ज्ञान का अंश यदि समस्त को प्रत्यक्ष न करे तो कौन करेगा?

एक प्रश्न—जब केवलज्ञान प्रत्यक्ष है, तब केवलज्ञान का विषय भी प्रत्यक्ष होना चाहिये?

उत्तर—हाँ, केवलज्ञान का विषय भी प्रत्यक्ष है। तीन काल और तीन लोक को जानने की जो परिभाषा है, वह तो लोगों की बाह्य दृष्टि है और वे बाह्य माहात्म्य को देखते हैं; इसलिये कहा है किन्तु यहाँ केवलज्ञान का विषय इस प्रकार प्रगट है कि जगत् के छहों द्रव्यों के (छह द्रव्यों में स्वयं भी आ जाता है) स्वरूप को जैसा है, वैसा यथार्थ जानता है, कोई द्रव्य के स्वरूप से अजान नहीं है; इसलिये जगत के समस्त द्रव्यों के स्वरूप को जानता है; अतः केवलज्ञान का विषय भी प्रत्यक्ष है (यहाँ जिस मतिज्ञान को केवल के अंश के रूप में दिया गया है, वह सम्यक् मतिज्ञान है) एक पुद्गल परमाणु का यथार्थ स्वरूप जाना तो जगत में जितने पुद्गल हैं, उन सब का स्वरूप भी उसी प्रकार जान लिया गया है, उसी प्रकार समस्त जीवों का स्वरूप समान ही है, यह भी ज्ञात हो गया है। इसलिये केवलज्ञान का विषय प्रत्यक्ष ही है।

मतिज्ञान में केवलज्ञान प्रत्यक्ष है। मतिज्ञान में केवलज्ञान को प्रत्यक्ष जाने बिना यह कहाँ से ले आये कि 'यह मतिज्ञान केवलज्ञान का अंश है ?' केवलज्ञान को जाने बिना यह कैसे निश्चय कर लिया कि यह 'केवलज्ञान का अंश है ?' केवलज्ञान को जाने बिना यह निश्चित नहीं हो सकता, इसलिये जहाँ अंश-अवयव (मतिज्ञान) प्रत्यक्ष है, वहाँ अंशी-अवयवी (केवलज्ञान) प्रत्यक्ष ही है।

लोग भी वस्तु का अंश मात्र देखकर यह कहते हैं कि हमने सारी वस्तु को प्रत्यक्ष देख लिया। जैसे कोई बंदरगाह पर विशाल समुद्र को उछलता हुआ देखता है, पूर्णिमा की रात्रि में समुद्र में उछलती हुई विशाल तरंगों को देखता है, तब यदि कोई दूसरा आदमी उससे पूछता है कि भाई! कितना समुद्र देखा ? तब वह तत्काल कह देता है कि मैंने तो अपनी आँखों से सारा समुद्र देखा है। फिर प्रश्नकर्ता पूछता है कि समुद्र में बड़े मगरमच्छ इत्यादि तमाम जलचर जीव भी देखे होंगे ? तब वह कहता है कि "मुझे तो ऐसा विकल्प भी नहीं होता था, सारा समुद्र आँखों से देखा, इसमें शंका ही नहीं उठी। समस्त और अंश के बीच का भेद ही नहीं है।" इस प्रकार अंश के देखने पर भी समस्त को देखा है, इसमें शंका नहीं करता, वहाँ वह नि:शंकता कहाँ से आई ? इसी प्रकार चैतन्य आत्मा समस्त अनंत गुणों से व्याप्त है, उसका जहाँ एक अंश प्रत्यक्ष देखा, वहाँ पूर्ण वस्तु की शंका ही नहीं होती। पर के देखने में समस्त और अल्प का भेद नहीं करता तो स्व द्रव्य में सारी वस्तु का एक अंश प्रगट होने पर परिपूर्ण और अंश का भेद कौन जानता है। अखंड परिपूर्ण ही है, उसमें शंका कैसी ? तीन लोक का नाथ चैतन्यघन आनंद का सागर हूँ, उसकी प्रतीति हुई, तब उसमें यह भेद ही कहाँ रहता है कि अंश प्रगट हुआ है या समस्त वस्तु ? अवस्था के द्वारा एक ही सामान्य का लक्ष्य है।

आहाहा ! जयधवला ! जयधवला !!! गजब कर दिया। जहाँ हस्त में आया और यह विषय दृष्टिगोचर हुआ, वहाँ ऐसा लगा कि कम वस्तु देखी है, यह बात ही कहाँ है ? पूर्ण का ही स्वीकार है। बाह्य वस्तु में भी अंश को देखता है और समस्त को स्वीकार कर लेता है। एक लाख रुपया की लोन का कागज हाथ में आता है, तब मात्र कागज का एक टुकड़ा ही प्रत्यक्ष में देखता है, फिर भी कहता है कि "इस लोन में से एक लाख रुपया मिलेंगे। जब चाहिये, तब इस लोन के एक लाख रुपयों से सरकार इनकार नहीं कर सकती।" इस प्रकार रुपया लाने से पहले ही निश्चित करता है। इसी प्रकार आत्मा में भी जहाँ अंश प्रत्यक्ष है, वहाँ समस्त वस्तु ही प्रत्यक्ष है, उसमें अपूर्ण की ओर

लक्ष्य नहीं करता, अभेददृष्टि के ज्ञान के प्रत्यक्ष के बल से निर्मलदशा सहज होती है।

अहो! केवली के मुख के रहस्य की पुकार इस जयधवला में की गई है, इसमें केवली की ही बात कही गई है। ''हम और तुम समान हैं'' कहो यह बात जँचती है या नहीं? यदि कहो कि हाँ तो चले आओ। ज्ञान के प्रत्यक्ष के बल से द्वैतभाव है, इसलिये परिपूर्ण वस्तु को जानता है और वर्तमान पर्याय को भी जानता है, तथापि जिस दर्शन का सामान्य बल है, उसमें से पुकार उठती है कि ''नहीं, रे नहीं, भेद नहीं है, अवस्था के अंश में समस्त वस्तु अंतर्हित है, यदि समस्त वस्तु प्रत्यक्ष न हो तो यह कहना भी गलत सिद्ध होगा कि वस्तु का अंश प्रत्यक्ष है क्योंकि वस्तु को देखे बिना यह कैसे निश्चय किया कि यह वस्तु का अंश है, इसलिये अंश में समस्त वस्तु प्रत्यक्ष है। हाँ, कह और चला आ। एक बार हाँ तो कह।''

जब कोई कसुंबा पीता है, तब यदि दूसरा व्यक्ति यह कहे कि ''आया आया'' तभी उसे नशा चढ़ता है; इसी प्रकार यहाँ स्वभाव में से बल चढ़ता है कि ''मैं पूर्ण हूँ, पूर्ण हूँ, परिपूर्ण ही हूँ'' इसकी हाँ कहने पर पूर्णता ही प्रगट होगी, भीतर से पूर्ण स्वभाव का बल बढ़े कि हाँ परिपूर्ण ही हूँ। मेरी अवस्था हीन हो ही नहीं सकती, इस प्रकार यदि हाँ कहे तो चला आ सिद्ध में, और यदि ना कहे तो चला जा निगोद में।

स्वयं ज्ञानस्वरूप ही हैं, त्रिकाल परिपूर्ण ज्ञानस्वरूप ही हैं, एक बार परिपूर्ण स्वरूप की अंतरंग से यथार्थ स्वीकृति दे तो पूर्ण ज्ञानस्वरूप अवश्य प्रगट हो जाय।

अहो! संतों ने मार्ग सरल कर दिया है, आत्मतत्त्व की यथार्थ प्रतीति हुये बिना तू क्या करेगा? अनादि काल में आत्मतत्त्व की प्रतीति के बिना पुण्य भी अनंत बार कर चुका है किन्तु भाई! जिससे जन्म-मरण का अंत न हो और आत्मतत्त्व की स्वाधीनता न खिले, उसे क्या आचरण कहा जा सकता है? उससे आत्मा को क्या लाभ है? बस! जिस भाव से जन्म-मरण दूर हो, उसे ही ला वही ला। ★

बम्बई, सं. १९५६, कार्तिक कृष्ण ११

॥ ॐ ॥

सत्श्रुत

श्री पाण्डव पुराणे, प्रद्युम्नचरित्र, पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय, पद्मनंदिपंचविंशति, गोम्मटसार, रत्नकरण्ड श्रावकाचार, आत्मानुशासन, मोक्षमार्गप्रकाश, कार्तिकेयानुप्रेक्षा, योगदृष्टि समुच्चय इत्यादि अनेक हैं। इन्द्रिय निग्रह के अभ्यास पूर्वक यह सत्श्रुत सेवन करनेयोग्य हैं। यह फल अलौकिक हैं-अमृत हैं। *(श्रीमद् राजचन्द्र आवृत्ति ६, पृष्ठ ३१८)*

श्रीमद् राजचन्द्र के पत्र, नोट्स, जीवन परिचय और उनकी कुछ रचनाओं आदि का एक वृहत् संग्रह 'श्रीमद् राजचन्द्र' के नाम से ग्रंथरूप में प्रगट हुआ है। अनेक जिज्ञासुओं को श्रीमद् की सत्श्रुत संबंधी मान्यता ज्ञात नहीं है। इसलिये यहाँ पर उनकी तत्संबंधी नोंध (नोट) दी जाती है।

उनके लेख अत्यन्त गहन और तत्त्वपूर्ण हैं। उनकी यह नोंध (नोट्स) भी इसी प्रकार की है, इसलिये उनका रहस्य संक्षेप में लिखना आवश्यक है। 'नोंधपोथी' (नोटबुक) के प्रारंभ में 'सत्श्रुत' शीर्षक बड़े अक्षरों में छपा है, इससे ज्ञात होता है कि मूल प्रति में भी बड़े अक्षरों में ही लिखा होगा।

'सत्श्रुत' शब्द गहन अर्थ सूचक है। जिसका प्रत्येक शब्द, पद, वाक्य और भाव परम सत्य हो वह ''सत् श्रुत'' है। जिनमें वीतराग की प्ररूपणा के अनुसार तत्त्वों का संयुक्तिक निरूपण किया गया हो, वे शास्त्र ही 'सत्श्रुत' हैं। और इस परिभाषा में उपरोक्त शास्त्र अन्तर्हित है, यह बात उनने नि:शंक होकर बताई है।

उपरोक्त शास्त्रों में से प्रथम ९ दिगम्बर शास्त्र हैं, जो हिन्दी टीका सहित प्रगट हो चुके हैं। इनमें से 'मोक्षमार्ग प्रकाश' गुजराती भाषानुवाद छप चुका है, जो गुजरात की जनता के लिये लोकप्रिय और परम उपकारक सिद्ध हुआ है।

'सत्श्रुत' संबंधी उपरोक्त व्याख्या श्रीमद् ने उत्तर अवस्था में की थी यह अत्यन्त अर्थसूचक है; इतना ही नहीं किन्तु उनने नमस्कार के प्रसंग पर निम्न लिखित भक्तिपूर्ण शब्द कहे हैं:—

''हे कुन्दकुन्दादि आचार्यों! आपके वचन भी स्वरूपानुसंधान में इस पामर के लिये परम उपकार भूत सिद्ध हुये हैं। इसलिये मैं आपको अतिशय भक्तिपूर्वक नमस्कार करता हूँ।''

इस स्तुति में भगवान श्री कुन्दकुन्दाचार्य का विशेषरूप में नाम लिया गया है। तथा 'स्वरूपानुसंधान'—'परम उपकारभूत'—'अतिशय भक्तिपूर्वक नमस्कार' और 'वचन' एवं सत्श्रुत के नाम विशेष उपयोगी होने से मनन करनेयोग्य हैं। मुमुक्षुओं को अपना स्वरूप समझकर स्वरूपानुसंधान करना है, इसलिये श्रीमद् के सत्गुरु और सत्श्रुत संबंधी यह मर्मसूचक शब्द हृदयांकित कर लेना चाहिये।

श्री कुन्दकुन्दादि आचार्यों के वचन श्रीमद् को स्वरूपानुसंधान में परम उपकारभूत सिद्ध हुये हैं, वे वचन किन शास्त्रों में हैं तथा उनने उन शास्त्रों के संबंध में क्या कहा है, सो यहाँ बताया जाता है।

श्रीमद् कुन्दकुन्दाचार्य के तीन रत्नों—श्री समयसार, श्री प्रवचनसार और श्री पंचास्तिकाय के संबंध में उनने इस प्रकार लिखा है:—

श्री समयसार संबंधी (सं. १९५६ अषाढ़)

''.....'पद्मनन्दि', 'गोमट्टसार', 'आत्मानुशासन', तथा 'समयसार मूल' इत्यादि परम शांत श्रुत का अध्ययन होता होगा। आत्मा के शुद्ध स्वरूप का स्मरण करते हैं। ॐ शान्तिः।''

यहाँ पर उनने श्री समयसार को परम शांत श्रुत कहा है और उसका अध्ययन करने को लिखा है। बनारसीदास कृत समयसार नाटक नहीं, किन्तु भगवान कुन्दकुन्दाचार्य कृत समयसार की ओर उनका इशारा है, इसलिये 'समयसार मूल' शब्द का प्रयोग किया है।

[गुजराती आवृत्ति छठी, पृष्ठ ३२७]

श्री प्रवचनसार संबंधी (सं. १९५३)

संवत १९५३ में उनने लिखा था कि —

''पूर्व महात्माओं ने कहा है कि—

जे जाणइ अरिहंते, दव्व गुण पज्जवे हिंय।
सो जाणइ निय अप्पा मोहो खलुजाइय तस्सलयं॥

जो भगवान अरहत के स्वरूप को द्रव्य, गुण, पर्याय से जानता है वह आत्मस्वरूप को जानता है, उसका मोह निश्चय से नाश को प्राप्त होता है।''

उपरोक्त गाथा श्री प्रवचनसार के अध्याय १ की ८० वीं गाथा है। यद्यपि यह गाथा भगवान कुन्दकुन्दाचार्य कृत है, तथापि 'पूर्व महात्माओं ने कहा है' इस प्रकार बहुवचन सूचक पद का प्रयोग करके यह बताना चाहा है कि उस कथन पर उनसे पूर्व के समस्त आचार्यों-महात्माओं की छाप है। (आवृत्ति ६, पृष्ठ २७२)

श्री पंचास्तिकाय संबंधी (सं. १९५३, चैत्र शुक्ल-५)

उनने सं. १९५३ की चैत्र शुक्ला पंचमी के दिन लिखा था:—

'द्रव्यानुयोग' परम गंभीर और सूक्ष्म है, निर्ग्रंथ प्रवचन का रहस्य है, शुक्लध्यान का अनन्य कारण है। शुक्लध्यान से केवलज्ञान समुत्पन्न होता है। महान भाग्य से उस द्रव्यानुयोग की प्राप्ति होती है।

दर्शनमोह का अनुभाग कम होने से, अथवा नष्ट होने से, विषय के प्रति उदासीनता से एवं महा पुरुष के चरणकमल की उपासना के बल से द्रव्यानुयोग परिणमित होता है।

जैसे-जैसे संयम बढ़ता है, वैसे वैसे द्रव्यानुयोग यथार्थ परिणमित होता है। संयम की वृद्धि का कारण सम्यग्दर्शन की निर्मलता है, और उसका कारण भी 'द्रव्यानुयोग' होता है।

सामान्यतया द्रव्यानुयोग की योग्यता को पाना दुर्लभ है। आत्माराम परिणामी, परम वीतराग दृष्टिवंत, परम असंग महात्मा पुरुष उसके मुख्य पात्र हैं।

किसी महापुरुष के मनन के लिये पंचास्तिकाय का संक्षिप्त स्वरूप लिखा था, वह मननार्थ इसके साथ भेजा है।

'हे आर्य! द्रव्यानुयोग का फल सर्व भावों से विराम प्राप्त करनेरूप संयम है। इस पुरुष के वे वचन अपने अन्त:करण में तू कभी भी शिथिल मत करना। अधिक क्या? समाधि का रहस्य यही है। सर्व दु:खों से मुक्त होने का यही अनन्य उपाय है।' (आवृत्ति छठी, पृष्ठ ४१८)

श्री नियमसार और अष्टपाहुड़ संबंधी

इसके अतिरिक्त भगवान कुन्दकुन्दाचार्य द्वारा निर्मित और (सटीक) प्रकाशित हुये नियमसार एवं अष्टपाहुड़ हैं। नियमसार उनके समय के बाद हस्तगत हुआ है, इसलिये वह उनके हाथ में नहीं आया; किन्तु अष्टपाहुड़ उनने देखा था। उसके संबंध में उनने लिखा है—

स्वामी वर्द्धमान जन्म तिथि (चैत्र शुक्ल १३, सं. १९५६ धर्मपुर)

'अष्टपाहुड़ के ११५ पृष्ठ संप्राप्त हुये' *(मोरबी, अषाढ़ शुक्ल-७, बुध १९५६)*

''श्रीमान् कुन्दकुन्दाचार्य ने अष्टपाहुड़ (अष्टप्राभृत) की रचना की है। प्राभृत भेद—दर्शनप्राभृत, ज्ञानप्राभृत, चारित्रप्राभृत, भावप्राभृत, इत्यादि। दर्शनप्राभृत में जिनभाव का स्वरूप बताया है। शास्त्रकार कहते हैं कि हमने, तुमने और देवाधिदेव ने भी पहले अन्यभाव भाये हैं, और इसी से कार्य नहीं सरा; इसीलिये जिनभाव को भाने की आवश्यकता है; जो जिनभाव शान्त हैं, आत्मा का धर्म है और जिसके भाने से ही मुक्ति प्राप्त होती है।'' (आवृत्ति छठी, पृष्ठ ५३६)

श्री कुन्दकुन्दाचार्य की दशा के संबंध में

इस संबंध में उनने लिखा है:—

'कुन्दकुन्दाचार्यजी तो आत्मस्थिति में बहुस्थित थे।' *(आवृत्ति छठी, पृष्ठ २२८)*

पुरुषार्थसिद्धियुपाय संबंधी

भगवान अमृतचन्द्राचार्य (श्री समयसार, श्री प्रवचनसार, और श्री पंचास्तिकाय के टीकाकार) द्वारा निर्मित श्रावकाचार संबंधी यह शास्त्र है। इस संबंध में वे कहते हैं:—

''पुरुषार्थसिद्धयुपाय का गुजराती भाषानुवाद करने में आज्ञा का अतिक्रम नहीं है।''

(फाल्गुन शुक्ल १, आवृत्ति छठी, पृष्ठ ३०६)

उपरोक्त कथन से सिद्ध है कि इस शास्त्र को भी उनने 'सत्श्रुत' के रूप में स्वीकार किया है।

स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा (मोरबी, अषाढ़ शुक्ल-१९५६)

इस शास्त्र के संबंध में उनने लिखा है:—

''स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा वैराग्य का उत्तम ग्रंथ है।''

इसमें द्रव्य को-वस्तु को यथावत् लक्ष में रखकर वैराग्य का निरूपण किया गया है। गत वर्ष मद्रास की ओर जाना हुआ था; स्वामी कार्तिकेय का उस भूमि में खूब विहार हुआ है। वहाँ के नग्न, भव्य, उत्तुंग, अडोलवृत्ति से स्थित पहाड़ों को देखकर स्वामी कार्तिकेयादि की अडोल, वैराग्यमय, दिगम्बरवृत्ति याद आती थी।

उन कार्तिकेय स्वामी को नमस्कार हो। (आवृत्ति छठी, पृष्ठ ३२७)

नोट—'नग्न' और 'दिगम्बर वृत्ति' यह दो शब्द विशेष ध्यान देने योग्य हैं। उनने बताया है

कि पूर्व भव का स्मरण होने से यहाँ पर नग्न दिगम्बर साधुओं का सत् समागम याद आ गया। स्वामी कार्तिकेय—श्री कुन्दकुन्दाचार्य विक्रम संवत् से पूर्व के आचार्य हैं। पूर्व भव की यह याद सनातन जैन मुनियों की दशा को सूचित करती है।

वृहत् द्रव्यसंग्रह संबंधी

ईडर नगर में उनने निम्न लिखित गाथाओं को उपदेश बोध के रूप में लिखते हुये बताया है कि—

मा मुज्जह मा रज्जह मा दुस्सह इट्ठणिट्ठ अत्थेसु।
थिर मिच्छहि जह चित्तं विचित्त झाणप्पसिद्धीए॥
पणतीससोलछप्पणचउदुगमेगं च जवह झाएह।
परमेट्ठिवाचयाणं अण्णं च गुरुवएसेण॥

यदि तुम ध्यान की सिद्धि के लिये अपना चित्त स्थिर करना चाहते हो तो इष्ट वस्तुओं में मोह मत करो-राग मत करो, और अप्रिय वस्तुओं में द्वेष मत करो। अनेक प्रकार के ध्यान की सिद्धि के लिये पैंतीस, सोलह, छह, पाँच, चार, दो और एक अक्षर वाले परमेष्ठी पद वाचक मंत्रों का ध्यान करो। और विशेष स्वरूप गुरु के उपदेश से जानना चाहिये।

जं किंचिवि चिंतंतो णिरीहवित्ती हवे जदा साहू।
लध्धूणय एयत्तं तदाहु तं तस्स णिच्छयं झाणं॥

अर्थ—जब साधु एकाग्रता को प्राप्त होकर जो कुछ भी चिंतवन करता हुआ इच्छारहित होता है, उस समय ही उस साधु का वह निश्चय ध्यान होता है। *(आवृत्ति छठी, पृष्ठ ३१७)*

देवागम स्तोत्र संबंधी

''देवागम स्तोत्र महात्मा समन्तभद्राचार्य ने (जिन के नाम का शब्दार्थ कल्याण जिन्हें मान्य है, होता है बनाया है,... उस स्तोत्र में प्रथम निम्न लिखित श्लोक हैं—

देवागम नभोयान चामरादि विभूतयः।
मायाविष्वपि दृश्यन्ते, नातस्त्वमसिनो महान्॥

इस श्लोक का भावार्थ यह है कि—देवों का आगमन-आना जाना, आकाश में गमन होना, चमर, छत्रादि विभूतियों का होना, इत्यादि तो मायावियों-इन्द्रजालियों में भी देखने को मिलते हैं; इसलिये हे भगवन्! आप इतने मात्र से हमारे लिये महान नहीं हो सकते। तीर्थंकरत्व देवत्व के लिये यह बाह्य वैभव व्यर्थ है।

इस प्रकार समन्तभद्राचार्य ने मानो गुफा में से निकलते हुये तीर्थंकर का हाथ पकड़ कर—उन्हें झकझोर कर उपरोक्त निरपेक्ष वचन कह डाले हैं; यही आशय यहाँ बताया गया है।''

(व्याख्यानसार, अषाढ़ कृष्ण १, सं. १९५६ से, आवृत्ति छठी, पृष्ठ ३३०-३३१)

इस प्रकार श्रीमद् राजचन्द्र ने सद्धर्म के रूप में वीतराग कथित धर्म को, सच्चे देव के रूप में वीतराग सर्वज्ञ को, सच्चे गुरु के रूप में श्री कुन्दकुन्दादि आचार्यों को और सच्चे शास्त्र के रूप में उपरोक्त शास्त्रों को स्वीकार किया है। इसका यह अर्थ हुआ कि उन सत्शास्त्रों का कथन वीतराग प्ररूपित है; और जिनशास्त्रों में उन से विपरीत कथन हो, वे सच्चे शास्त्र नहीं हैं। इसलिये उपरोक्त शास्त्रों को 'सत्श्रुत' मानकर उनका अभ्यास करके जिज्ञासुओं को सत्यासत्य का निर्णय परीक्षापूर्वक करना चाहिये। क्योंकि सत्-शास्त्र-आगम ही सम्यग्ज्ञान में निमित्तभूत हो सकता है, और असत् शास्त्र मिथ्यात्वपोषक होते हैं।

प्रत्येक जीव रात-दिन सुख प्राप्ति के लिये प्रयत्न करता रहता है; किन्तु सच्चा उपाय नहीं जानने से उसे सुख नहीं मिलता और उसका दु:ख दूर नहीं होता। इसलिये अनन्त ज्ञानी पुरुषों ने कहा है कि—

इस जीव का मुख्य कर्तव्य आगमज्ञान है। इस ज्ञान के होने पर तत्त्वश्रद्धान होता है। तत्त्वश्रद्धान होने पर संयम होता है। और उस सत्श्रुत सत् आगम से आत्मज्ञान की भी प्राप्ति होती है जिससे सहज मोक्षदशा का लाभ होता है। यदि जीव सत् को भी सत् के रूप में स्वीकार न करे, और असत् शास्त्रों को सत् मान ले तो उसे अपने अनादि कालीन अगृहीत मिथ्यात्व को इस नवीन गृहीत मिथ्यात्व से और भी पुष्टि मिलती है और इसलिये जीव को दु:ख से मुक्त होना अति दुर्लभ हो जाता है। इसलिये जीवों को सत्श्रुत की ठीक परीक्षा करके पहचान लेना चाहिये। ★

१६ आत्मधर्म वर्ष मूल्य में

महाराज ब्र. कुंजीलालजी उदासीनाश्रम इन्दौर के आहारदान के समय श्री तोतुसा किसन सा चबरे, मलकापुर ने हिन्दी आत्मधर्म १६ ग्राहकों को आधा मूल्य में भेजने का निर्णय किया है। जिन भाईयों को आवश्यकता हो, वे रुपये १/- भेजकर निम्न पते से मंगा लें।

व्यवस्थापक, आत्मधर्म कार्यालय, मोटा आंकडिया-काठियावाड़

ATMADHARMA With the permission of the Baroda Govt. order No. 30-24 date 31-10-44 Regd. No. B. 4875

निर्ग्रंथ साधुपद का स्वरूप

सम्यग्दर्शन से धर्म की शुरुआत होती है। इसके बिना चारित्र का सद्भाव ही नहीं। चारित्र के अभाव में साधुपद कहाँ? सम्यग्दर्शन-ज्ञानपूर्वक जिन्हें चारित्र की प्राप्ति होती है, वे साधु हजारों बार छठे-सातवें गुणस्थान में जाते-आते रहते हैं। सातवें अप्रमत्त गुणस्थान में मुनि शुद्धोपयोग में लीन रहते हैं, उसमें जब नहीं टिक सकते, तब फिर छठे प्रमत्त गुणस्थान में आ जाते हैं। वहाँ मुख्यतया शुभोपयोग होता है किन्तु वे शुभभाव को धर्म नहीं मानते।

इन गुणस्थानों में रहनेवाले मुनियों को शरीर के प्रति स्पर्शेन्द्रिय का राग नहीं रहता, इसलिये शरीर को ढकने का संकल्प उन्हें नहीं आता। इसीलिये उनके वस्त्र का संयोग नहीं होता। संयम पालन के हेतु आहारपान करने मात्र तक राग उन्हें रहता है। इसलिये आवश्यकता होने पर एक समय कर पात्र में आहार ग्रहण करते हैं। यही सच्चे साधु की दशा हो सकती है। ऐसा आचार्य महाराज स्पष्ट कथन करते हैं। जो अपने को जैन के साधु कहते और कहलाते हैं और फिर वस्त्र धारण करते हैं, वे सच्चे साधु नहीं। वस्त्रधारी भी साधु होता है, ऐसी मिथ्या मान्यता का फल निगोद है। इसी आशय को उनने बताया है। (सूत्र पाहुड, गाथा १८)

कार्तिक शुक्ला ७

जैनशासन के लिये जीवन समर्पण करनेवाले पंडित प्रवर श्री टोडरमलजी की देहांत कार्तिक शुक्ला सप्तमी के दिन हुई थी। वे महान धर्मात्मा थे। दुष्ट जीवों के दुष्कृत्य से सिर्फ २८ साल की अल्प आयु में ही उन्हीं का निधन हुआ। उन्होंने मोक्षमार्गप्रकाशक आदि ग्रंथों की रचना करके जैनशासन पर महान उपकार किया है। जैन जनता कार्तिक शुक्ला सप्तमी के दिन श्रद्धेय पंडित प्रवर टोडरमलजी के प्रति श्रद्धांजलि अर्पण करे।

आत्मधर्म की प्रभावना

हिंदी आत्मधर्म पत्र का अच्छा प्रसार हो और पाठकों को स्वाध्याय के लिये विशेष एवं विविध प्रवचन-प्रश्नोत्तर आदि मिलें-इस हेतु से आत्मधर्म पत्र में चार पृष्ठ बढ़ाने के लिये श्री दीपचन्दजी शेठिया-सरदार शहेर (बीकानेर)वालों ने रुपया ५००/- पाँच सौ दिये हैं। धन्यवाद

मुद्रक : चुनीलाल माणेकचंद रवाणी, शिष्ट साहित्य मुद्रणालय, दास कुंज, मोटा आंकडिया ता.२९-१०-४६
प्रकाशक : जमनादास माणेकचंद रवाणी, आत्मधर्म कार्यालय, मोटा आंकडिया, काठियावाड